प्रकाशक
गयाप्रसाद ऐण्ड संस,
आगरा।

प्रथम संस्करण : नवंबर १९४०
द्वितीय संस्करण : जनवरी १९४५
तृतीय संस्करण : जून १९४६
चतुर्थ संस्करण : जून १९४९

मुद्रक—जगदीशप्रसाद
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

लेखकों की हिंदी-सेवा के सम्बन्ध में अभी तक किसी पुस्तक में
ढंग से विचार नहीं किया गया है। यदि विद्यार्थियों को प्रमुख
ाहित्य-सेवियों की हिंदी-सेवा का आरंभ में ही ज्ञान करा दिया
ो भविष्य में वे उन लेखकों का साहित्य में स्थान विशेष सुविधा से
ामझ सकेंगे और उनका सम्मान करना भी सीखेंगे।

(द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में)

प्रस्तुत पुस्तक इंटरमीडिएट तथा समकक्ष परीक्षाओं के छात्रों की
ाावश्यकता सामने रख कर लिखी गई थी। हर्ष है कि राजपूताना,
ास और संयुक्तप्रांत के शिक्षाधिकारियों ने विभिन्न परीक्षाओं के
ए इसे स्वीकार किया है। अपने इस संशोधित रूप में, मुझे विश्वास
, परीक्षार्थियों को यह और उपयोगी सिद्ध होगी।

'हिंदी गद्य का विकास' इस बार अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से
खा गया है। इससे बी० ए० के विद्यार्थी भी पूर्ण लाभ उठा
कते हैं।

(चतुर्थ संस्करण के सम्बन्ध में)

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक विद्यार्थियों ने तो पुस्तक को अपनाया
है, बी० ए० तथा समकक्ष परीक्षाओं के छात्र भी इससे लाभ
ठाते हैं। इस बार 'गद्य का विकास कुछ संक्षिप्त करके विशेष
गठित कर दिया गया है। अपने इस संशोधित रूप में, मुझे
श्वास है, यह और भी उपयोगी सिद्ध होगी।

ानीकटरा, लखनऊ
१९४९

प्रे० ना० टंडन

विषय सूची

हमारे गद्य-निर्माता

शैली

परिचय

जब हम किसी मित्र को दूर पर आता हुआ देखते हैं तब तत्काल मुँह से निकल पड़ता है—लीजिए, अमुक तो आ गए इसी प्रकार जिस लेखक या कवि का हमने अध्ययन किया है, मित्र की तरह बहुत दिनों तक जिसकी कृतियों के साथ रहे हैं उसका एक वाक्य अथवा छन्द सुनते ही मुँह से निकल पड़ेगा—यह वाक्य या छन्द तो अमुक लेखक अथवा कवि का हो सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस लेखक या कवि की सब रचनाओं को हमने कंठाग्र कर लिया है और सुनते ही भूली बात की तरह हमें कहा हुआ वाक्य या छन्द याद आ जाता है। वास्तव में बात यह है कि जिस तरह हम अपने मित्र की चाल-ढाल, तर्ज-तरीका देखकर उसे पहचान लेते हैं, उसी प्रकार वाक्य या छन्द सुनकर अपने प्रिय लेखक या कवि को। यह बात यों भी समझ मे आ सकती है:—

हम कमरे में बैठे हुए हैं। घर के बाहर से किसी ने आवाज दी और हमारे मुँह से निकल पड़ा—आओ भाई, बहुत दिन बाद आए; अथवा आओ, मै तुम्हारी प्रतीक्षा कर ही रहा था। आशय यह कि हम अपने मित्रों, पड़ोसियों अथवा सम्बन्धियों की आवाज सुन कर ही—चाहे हम उन्हें देख न भी सकें—पहचान जाते हैं कि कौन बोल रहा है। इसी प्रकार वाक्य या छन्द—शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास तथा उसका ढंग—लेखक की वाणी के समान है। इस वाणी को—उसके कहने की रीति को—बार-बार सुनते सुनते हम उससे परिचित हो जाते हैं और इसीलिए एक ही वाक्य या छंद सुनकर कह सकते हैं—यह तो अमुक लेखक या कवि का है। यह कहना हमारे लिए तभी

सरल हो सकता है जब हम उसके कहने—लिखने—के ढंग से भली-भाँति परिचित हों। सीधे-सादे शब्दों में कह सकते हैं कि लेखक के लिखने या अपने भाव प्रकट करने का ढंग ही उसकी शैली है और प्रत्येक लेखक अथवा कवि की रचनाओं का भली-भाँति अध्ययन करने पर हम यह उसी प्रकार सरलता से बता देंगे कि यह शैली तो अमुक लेखक या कवि की है जिस प्रकार अपने मित्र अथवा परिचित व्यक्ति की चाल देखकर या केवल आवाज सुनकर ही उसका नाम बता सकते हैं।

शैली

प्रायः हम देखते है कि एक व्यक्ति दूसरे की सुन्दर आवाज या चाल-ढाल की नकल करता है और कभी-कभी अपने इस प्रयत्न में थोड़ा बहुत सफल भी हो जाता है। तब हम कह उठते हैं—यह तो वैसी ही आवाज या चाल है। परन्तु वह जिसकी की नकल नकल करता है ठीक उसी की तरह चलने या बोलने में सफल नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव, विचार, आदर्श, भाव एक दूसरे से अलग होते हैं और जब वह बात करता है तब इनका उसके कहने के ढंग पर प्रभाव पड़ता है। फलतः एक व्यक्ति के कहने या बोलने का ढंग दूसरे से भिन्न रहता है; क्योंकि कहने या बोलने के ढग पर उसके निजी व्यक्तित्व—व्यक्ति की निजी बातों—जैसे कल्पना, अनुभूति, आदर्श आदि—का प्रभाव पड़ता है।

ठीक यही बात शैली के सम्बन्ध में भी है। लेखक या कवि की अनुभूति और कल्पना, अनुभव और आदर्श, विचार और भाव—एक शब्द मे, उनके व्यक्तित्व—परस्पर भिन्न रहते हैं। एक लेखक या कवि जब कुछ लिखने बैठता है तब उसके निजी व्यक्तित्व का उसके ढंग पर प्रभाव पड़ता है। यही बात सभी लेखकों के लिए सत्य है। अतः जब सभी लेखकों और कवियों का व्यक्तित्व अलग-अलग होगा तब सभी के लिखने के ढंग भी भिन्न-भिन्न होंगे। प्रश्न हो सकता है—क्या एक लेखक दूसरे के लिखने के ढंग अर्थात् उसकी शैली की नकल कर सकता है ? उत्तर होगा—प्रयत्न करने का सबको अधिकार

है और यदि नकल करने वाले का व्यक्तित्व जिस लेखक अथवा कवि की शैली की वह नकल करना चाहता है, उसी की तरह का होगा—यद्यपि ऐसा होता बहुत कम है—तब उसे थोड़ी बहुत सफलता मिल जायगी जैसी वाणी या चाल-ढाल की नकल करने को मिल जाती है। परन्तु साधारणतः देखने मे आता है कि सभी लेखकों के विचार, भाव, आदर्श तथा अध्ययन आदि समान नहीं होते, वैसे ही, यदि शैली की नकल करने वाले का व्यक्तित्व, जिसको शैली की नकल करने का वह प्रयत्न कर रहा है उससे भिन्न है, तब सफलता की आशा कम है। इसलिए भावों और विचारों को प्रकट करने की प्रणाली में जो नवीनता अथवा भिन्नता अपने व्यक्तित्व की छाप अथवा प्रभाव के कारण आती है, वही लेखक की शैली की विशेषता कहलाती है।

भाषा से सम्बन्ध

प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ विचार होते हैं। वह उनको व्यक्त करने—लिखने या कहने—का प्रयत्न भी करता है। ऐसा करते समय उसकी यह हार्दिक अभिलाषा रहती है और इसके लिए वह शक्तिभर प्रयत्नशील भी रहता है कि उसकी कल्पना और अनुभूति, उसके विचार और भाव, इस तरह व्यक्त किए जायँ कि पढ़ने या सुनने वालों पर उसका अधिक से अधिक प्रभाव पड़े। इस कार्य के लिये लेखक को भाषा की आवश्यकता पड़ती है। भाषा सार्थक शब्दों का ऐसा समूह है जो हमारे विचारों को दूसरों तक और दूसरों के विचारों को हम तक पहुँचाता है। परन्तु शब्द सार्थक होते हुए भी उस समय तक शक्तिहीन ही रहते हैं जब तक वे विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए वाक्यों मे सजाए नहीं जाते। अतः एक ओर तो शब्दों के प्रयोग का प्रश्न आता है और दूसरी ओर उनका इस ढंग से प्रयोग करने का कि वे विशेष रूप से अपना प्रभाव डाल सकें। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो शब्द विशेष महत्व के हैं और दूसरी ओर वाक्य विन्यास अर्थात शब्दों को प्रभावोत्पादक ढग से सजाना। अपने भावों को प्रकट करने का कार्य यों तो इन दोनों की सहायता से होता है, तो भी प्रधानता

वाक्य-विन्यास की ही रहती है। अतः सुविधा के लिए लेखन-शैली के दो रूप किए जा सकते हैं—

(१) वाक्य-विन्यास अथवा भाव-प्रकाशन-शैली।

(२) शब्द-योजना अथवा भाषा शैली।

शैली विचारों को प्रकट करने का ऐसा निजी ढंग है जो व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न रहता है। यदि एक लेखक विद्वान होते हुए भी आलस्य अथवा अन्य किसी कारण से अव्यवस्था-प्रिय बन गया है तो पाठक चाहे उसकी बुद्धि की प्रशंसा करें, परन्तु अव्यवस्था उन्हें अप्रिय अवश्य लगेगी। इसी प्रकार यदि हमारा लेखक विद्वान् न होते हुए भी अपने को विद्वान् प्रदर्शित करना चाहता है, तो आरम्भ में उसके विचार अपरिपक्व होंगे और शैली अपरिमार्जित रहेगी। हाँ, ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता जायगा और वह लिखने का अभ्यास करता रहेगा, त्यों त्यों उसके विचार स्पष्ट और प्रौढ़ होते जायँगे तथा शैली सुलझी हुई और संयत होती जायगी।

लेखक की शैली पर सबसे पहले उसकी रुचि, उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, एक लेखक की रुचि विषय को

भाव-प्रकाशन शैली

अत्यन्त सरल ढंग से व्यक्त करने की है और उसका उद्देश्य तथा आदर्श है साधारण से साधारण योग्यता के पाठकों को विषय भली-भाँति समझा देना। तब वह (पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की तरह) सरल वाक्यों का प्रयोग करके, एक ही बात बार-बार, दूसरे-दूसरे शब्दों में दोहराकर, सरल भाषा में इस ढंग से लिखेगा कि सभी पाठक बिना प्रयास उसकी बात समझ लें। यदि (द्विवेदी जी की भाँति ही) उस सरलता प्रिय लेखक का उद्देश्य किसी आदर्श या विचार-विशेष का प्रचार करना अथवा भूले-भटके व्यक्तियों को उनका कर्त्तव्य सुझाना है तब वह सरल भाषा में उपदेशात्मक और आदेशात्मक ढंग से काम लेगा। यदि इस पर भी लोग उसके कथन पर ध्यान न देंगे, या कभी कभी उसका विरोध करेंगे और लेखक अपनी दृष्टि में ठीक रास्ते पर है, तब वह कभी व्यंग्य और कटाक्ष से काम लेगा, कभी

जोश मे आकर उन्हें फटकारने लगेगा, कभी ओज-पूर्ण शैली में अपने विचार व्यक्त करेगा अथवा, यदि भाग्यवादी हुआ तो ईश्वर की दुहाई देता रह जायगा जिसे कुछ लोग 'प्रलाप' के नाम से पुकारेंगे।

दूसरा लेखक (पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल की तरह) गम्भीर विचार का है, उसका अध्ययन भी गम्भीर है और दैनिक जीवन में भी वह प्रायः गम्भीर ही रहता है तब विचारों को प्रकट करने का उसका ढंग भी गम्भीर ही होगा। यदि उसका उद्देश्य अपने विचारों को प्रकट करना अथवा विषय की विवेचना करना मात्र है—साधारण पाठक कुछ लाभ उठा सकेंगे या नहीं, इसकी वह चिन्ता नही करता—तो उसकी शैली भी इतनी क्लिष्ट और गम्भीर होगी कि एक-आध पृष्ठ पढ़कर ही साधारण पाठक का दिमाग चकरा जायगा। हाँ, जो लोग पढ़े लिखे और विद्वान् होगे वे अवश्य उसकी पुस्तकों से लाभ उठाकर उसकी विद्वत्ता को सराहना करेंगे।

यदि लेखक (पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की तरह) बड़ा हँसमुख है तो उसकी शैली में उसके स्वभाव की इस विशेषता के दर्शन भी स्पष्ट होगे। साथ ही, गम्भीर अध्ययन होने पर उसकी गम्भीर शैली में हास्य का ऐसा मिश्रण मिलेगा (उदाहरण के लिए पंडित पद्मसिह शर्मा की शैली की ओर संकेत किया जा सकता है) जो पाठको को विशेष रुचिकर होगा। यही हास्य अत्यन्त सयत, नियमित और शिष्ट होने पर कभी-कभी व्यंग्य और कटाक्ष के रूप मे दिखाई देता है। पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल की शैली मे इसके उदाहरण मिलते हैं।

कभी-कभी भाव प्रकाशन-शैली में विषय के अनुसार भी परिवर्तन होता है। इतिहास, तीर्थयात्रा जैसे विषय वर्णन की प्रधानता होने के कारण, सरल ढंग से, केवल परिचय कराने के लिए, लिखे जाते हैं। इसके विपरीत, सत्य, जीवन, धर्म, प्रेम, करुणा, आलोचना आदि गंभीर विचारात्मक विषयों के विवेचन के लिए प्रायः गंभीर शैली ही अपनानी पड़ती है। दैनिक जीवन में भी प्रायः यह बात देखते हैं कि जब हम साधारण विषय पर वार्त्तालाप करते हैं तब गंभीर होने की आवश्यकता नहीं समझते; परन्तु गंभीर प्रश्न छिड़ने पर फौरन कह

बैठते हैं—अच्छा, अब हँसी हो चुकी, गम्भीर होकर काम की बातें करो। यही बात गम्भीर विषयों का विवेचन करते समय लेखक भी अपने मन में कहता है।

भाव-प्रकाशन-शैली पर समय की परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। 'साहित्यालोचन' के लेखक का कहना है कि किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रन्थकार या कवि उस काल की विशेषता के कारण अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण के ढंग, उसकी शैली को भी उससे प्रभावित होना और अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अन्तरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से बच नहीं सकता। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये उदाहरणवत लल्लूलाल और हरिचन्द्र के गद्य को उपस्थित कर सकते हैं। इन दोनों की गद्य-शैली में बड़ा अन्तर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने व्रज-भाषा के पद्य और व्रजमंडल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चन्द्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०–८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है, पर यहाँ हमारा उद्देश्य उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे उन दोनों के गद्य में इतना अन्तर हो गया है, हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनों की गद्य-शैली ने किस तरह भिन्न-भिन्न रूप धारण किए। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर करने में लगी हुई थी, पर हरिश्चन्द्र के समय में उस रूप में कुछ-कुछ स्थिरता आ गई थी। वह परिमार्जित हो चली थी, उसमें प्रौढ़ता और शक्ति-सम्पन्नता के चिन्ह दिखाई देने लगे थे; वह भाव-

भाव-प्रकाशन-शैली पर पड़ने वाले प्रभाव

व्यंजना में अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और प्रभावान्वित होकर हरिश्चंद्र ने गद्य-लेखन की उस शैली की अवतारणा की है जिसे हम उनकी पुस्तकों में पाते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रत्येक लेखक की शैली पर निजी रुचि, स्वभाव उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव तो एक ओर पड़ता है और परिस्थिति तथा विषय का बाहरी प्रभाव दूसरी ओर। अतः किसी लेखक की शैली का अध्ययन करने के पूर्व हमे निम्नलिखित बातों को जानने का प्रयत्न करना चाहिए—

(१) परिस्थिति अथवा समय जब उसने ग्रंथ-रचना आरम्भ की।

(२) रुचि, स्वभाव, उद्देश्य और आदर्श। इन पर परिस्थिति और संस्कार का प्रभाव पड़ेगा।

(३) लेखक का प्रिय विषय।

वाक्य-विन्यास

इन तीनों बातों को समझने के पश्चात् वाक्य-विन्यास के अध्ययन की आवश्यकता होती है। वाक्य-रचना के विषय में, साधारणतः यह देखना चाहिए कि लेखक ने वाक्य छोटे लिखे हैं अथवा बड़े, उनका संगठन कैसा है; समुच्चयबोधक 'और' का अधिक प्रयोग करने से वाक्यों में शिथिलता तो नहीं आगई है; वाक्य जटिल और दुर्बोध तो नहीं है, जान-बूझ कर उन्हें बढ़ाने या जटिल बनाने का प्रयत्न तो नहीं किया गया है, अनावश्यक वाक्यांशों का प्रयोग तो नहीं है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि लेखक ने मुहावरों का समुचित प्रयोग किया है या नहीं और उनसे क्या लाभ अथवा उनके न होने से क्या हानि हुई है। अन्तिम बात यह है कि अपने विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए उसने कैसे वाक्य लिखे हैं। प्रायः लेखक संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करके अपना उद्देश्य व्यक्त करने वाला प्रधान उपवाक्य अन्त में रखते हैं। इससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है। कभी-कभी कई वाक्यों में प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर अपनी बात पर जोर दिया जाता है। कोई-कोई लेखक (जैसे बाबू जयशंकर प्रसाद) नाटकीय ढंग से वाक्य-रचना करके उन्हें प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

अन्त में व्यंग्य और कटाक्ष की चुभती हुई फबतियाँ भी—यदि हों तो—छाँटना चाहिए। इनकी विवेचना करने में बड़ा आनन्द आयगा। परन्तु व्यंग्य और कटाक्ष, शिष्टाचार की सीमा के अन्तर्गत ही हों; जले-दिल के फफोले नहीं। इनका प्रयोग कुशल लेखक ही सफलता पूर्वक कर सकता है।

भाषा-शैली के विषय में सबसे पहले तो हमें यह देखना होगा कि हिन्दी के तीन रूपों में से—जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी के समय से प्रचलित हुए थे—उसने किस-किस को अपनाया है और क्यों? प्रायः हम देखेंगे कि सभी लेखकों की भाषा एक से अधिक प्रकार की है और इस विभिन्नता का कारण, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है विषय का गंभीर अथवा सरल होना तो एक ओर है और रुचि तथा आदर्श दूसरी ओर। अतः सबसे पहले हमें इन्हीं से परिचित होना चाहिए। एक लेखक (जैसे प्रेमचन्दजी) का विषय केवल कहानी या उपन्यास लिखना है। साधारणतः उसकी भाषा सरल और प्रचलित होनी चाहिए। स्थल विशेष पर, पात्र की भाषा का ध्यान करके अथवा अन्य किसी कारण से, संभव है, अन्य दोनों रूपों में से एक के या दोनों के दर्शन भी हो जायँ; पर कहानी-लेखक यदि (बाबू रायकृष्णदासजी की भाँति) भावुक और कवि हुआ तो उसकी भाषा के साधारण रूप पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और यदि (बाबू जयशंकर प्रसाद की तरह) लेखक भावुक कवि होने के साथ अपना निजी आदर्श भी रखता है तो उस काव्यात्मक भाषा-शैली में उस आदर्श के अनुसार भी परिवर्तन होना चाहिए। ऐसी दशा में उसकी भाषा में अलंकारों की छटा के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ तो मिलेंगी ही, भाषा का साधारण रूप भी आवरण से ढक जायगा। इसी प्रकार गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी भाषा में संस्कृत शब्दों का—कभी-कभी समासांत पदों का—बाहुल्य रहेगा। लेखक यदि भाषा के इस रूप का पक्षपाती हुआ (जैसे पंडित गोविन्दनारायण मिश्र) तब तो फिर सरल विषय भी कादम्बरी की गद्य-काव्य-भाषा में लिखा जायगा।

पश्चात् विदेशी शब्दों—विशेषकर अरबी, फ़ारसी और अँग-

रेजी—के प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए। आज राष्ट्र भाषा का महत्त्व-पूर्ण प्रश्न छिड़ जाने के कारण इस ओर ध्यान देना और भी आवश्यक हो गया है। अन्तिम बात है हिन्दी भाषा के तीनों रूपों तथा विदेशी शब्दों के प्रयोग के विषय में लेखक के विचारों से परिचित होना। यह कार्य लेखक की भाषा-शैली के समझने मे तो सहायक होगा ही, साथ ही हम भाषा तथा उसके रूपो के विकास का कारण सहित क्रम भी जान सकेंगे। तभी शैलो का अध्ययन उचित रीति से हो सकेगा।

हिंदी गद्य का विकास

(क) प्राचीन हिंदी गद्य

(सन् १२०० से १८०० तक)

प्राय: सभी भाषाओं के प्राचीनतम उदाहरण पद्य मे ही मिलते हैं, गद्य मे नहीं। इसका कारण यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्यों ने बातचीत करना भी पद्य से ही आरम्भ किया होगा; प्रत्युत कारण यह है कि प्रेस का आविष्कार न होने से साहित्य-सेवियो को अपनी रचनाएँ कंठाग्र रखनी पड़ती थीं और पद्य को अपने कंठ में संरक्षित रखना गद्य की अपेक्षा सरल है। हिन्दी भी इस साहित्यिक तथ्य का अपवाद नहीं है। हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल, भक्तियुग और रीतिकाल मे काव्य की जो प्रगति हुई, वह गद्य की न हो सकी; गद्य के तो केवल कुछ चिन्ह ही मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गद्य मे लिखने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी और अनेक ग्रन्थ उसमे रचे भा गये। परन्तु उन्हें काव्यों की-सी प्रसिद्धि न मिल सकी। इससे बहुत-से ग्रन्थ तो नष्ट हो गए होंगे; सम्भव है, इस काल के अनेक गद्य-ग्रन्थ अन्धकार में ही पड़े हों। जो हो, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य गद्य से सर्वथा शून्य नहीं है।

विषय-प्रवेश

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल मे साहित्यिक क्रियाशीलता का केन्द्र प्रधानत: राजस्थान हो था। पद्य के साथ-साथ बहुत से गद्य ग्रन्थ

राजस्थानी गद्य

इस समय लिखे बताए जाते हैं जो आज प्राप्त नहीं हैं। अधिकांश ग्रन्थ तो राजनीतिक परिवर्तनों और उलट-फेर के फलस्वरूप नष्ट हो गए और शेष संरक्षकों की असावधानी के कारण। हाँ, राजघरानों में कुछ शिलालेख और दानपत्र अवश्य मिलते हैं जिनसे इस युग के गद्य का नमूना मिल जाता है। राजस्थानी गद्य के यही सबसे प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं। इनमें प्रयुक्त कुछ शब्दों के रूप संस्कृत की विभक्ति से ही युक्त हैं; जैसे 'समरसिंह की आज्ञा से' के लिए लिखा है, 'समरसी जी वचनातु।' दूसरी बात यह कि इनकी क्रियाएँ खड़ी बोली की-सी हैं; जैसे—लेवेगा जावेगा, करोगे, आवोगे, होवेंगे। तीसरी, थोड़ा हेर-फेर छोड़कर इनके शब्द आजकल के से ही हैं; जैसे आचरज, डायजे, ओषद। 'जनाना' जैसे एकाध फारसी शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि उसका भी बोलचाल की भाषा पर धीरे-धीरे प्रभाव पड़ने लगा था।

वारहवीं, तेरहवीं शताब्दी में ही कुछ जैन साधुओं ने निज धर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें कुछ गद्य के हैं और

वीरगाथा काल में राजस्थानी गद्य

कुछ पद्य के। पद्य-रचनाएँ प्रायः मौखिक ही रहती थीं; परन्तु गद्य-ग्रन्थ लिखित हैं और कुछ के अंश अब भी मिलते हैं। इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है। इनमें निश्चय रूप से राजस्थानी के प्राचीन गद्य का नमूना मिल जाता है। इन सभी में संस्कृत के शब्द ही नहीं, लम्बे-लम्बे समासांत पद तक प्रयुक्त हुए हैं। इन जैन-ग्रंथों की भाषा पट्टे-परवानों की भाषा से कुछ भिन्न है और यह स्वाभाविक भी था।

पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य ने पर्याप्त उन्नति की। गद्य में रचना करने का जो क्रम राजस्थान में भक्ति

भक्तिकाल में राजस्थानी गद्य

काल के पूर्व से आरम्भ हुआ वह तीन-चार सौ वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। राजस्थान में इस समय छोटे छोटे राज्य थे। इन शताब्दियों में इनकी ख्यातें (इतिहास) बराबर लिखी जाती रहीं।

साथ-साथ कथा-साहित्य की, जिनमें ऐतिहासिक, इतिहास आधारित और काल्पनिक सभी प्रकार की रचनाएँ है, सृष्टि भी होती रही। वीर-रस के प्रबन्ध और मुक्तक ऐतिहासिक, इतिहास, काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त इन तीन शताब्दियों में 'धर्म, नीति, छंदशास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टि-विज्ञान इत्यादि अनेक विषयों के ग्रन्थ भी एक बड़ी संख्या में उपलब्ध है। ये ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों मे हैं।'

सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दी में भी राजस्थानी भाषा में गद्य-ग्रन्थ लिखने का क्रम पूर्ववत् ही बना रहा, अनेक ऐतिहासिक और काल्पनिक कहानियाँ लिखी गईं। ब्रजभाषा अब

रीतिकाल में राजस्थानी गद्य

तक पूर्णरूप से साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतः इस युग तक आते-आते राजस्थानी लेखकों ने भी उसमें ग्रन्थ-रचना आरम्भ कर दिया। इनकी भाषा में राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण मिलता है और यह स्वाभाविक भी था। इस प्रकार की भाषा मे अबुलफजल की 'आईने अकबरी' का हिन्दी अनुवाद, जो लगभग ५०० बड़े पृष्ठों का है, महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। शुद्ध राजस्थानी में भी 'रघुबर जस प्रकास' 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' जैसे कुछ ग्रन्थ उन्नसवीं शताब्दी मे लिखे गए। इनकी भाषा डिंगल है। आगे चलकर खडी बोली का विस्तार-क्षेत्र बढ़ जाने के कारण राजस्थानी भाषा का हिन्दी-भाषी प्रांतों में विशेष प्रचार न हो सका। पद्य के लिए भी उसका क्षेत्र सीमित ही रहा।

वीरगाथा काल के प्राप्त ग्रन्थों मे कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थों का संबंध जिनके विषय प्रायः हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि हैं, ब्रजभाषा गद्य से है।

वीरगाथाकाल मे ब्रजभाषा का गद्य

इनमें एक के रचयिता का नाम कुमुटिपाव है और शेष गोरखनाथ के शिष्यों के रचे अथवा संकलित किए हुए हैं। अब तक अधिकांश गोरखपन्थी ग्रन्थों का रचयिता हमारे विद्वान बाबा गोरखनाथ को ही मानते थे, परन्तु ग्रन्थो की संख्या, उनके साथ बाबाजी का नाम और उनमे बाबाजी के महत्व, विवाद, सिद्धांत आदि की बाते देखकर अनुमान किया जाने लगा है कि इनकी रचना अथवा संग्रह गोरखनाथ के

शिष्यों ने किया होगा, यद्यपि यह भी सम्भव है कि इनमें से एकाध की रचना स्वयं बाबाजी ने भी की हो। इन ग्रन्थों में एकाद गद्य में है।

भक्तिकाल मे ब्रजभाषा गद्य

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तियुग में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य-केन्द्र राजस्थान न रह कर ब्रज और काशी के आस-पास हो गया। फलतः राजस्थानी के साथ साथ ब्रजभाषा और अवधी को भी काव्यभाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में दोनों भाषाओं में अनेक सुन्दर काव्य रचे गए। आगे चलकर धार्मिक उत्थान का आश्रय पा जाने के कारण ब्रजभाषा का क्षेत्र अवधी से बहुत विस्तृत हो गया। काव्य की सर्वमान्य भाषा के रूप से प्रतिष्ठित हो जाने पर अनेक गद्य-ग्रन्थ भी उसमे रचे गए। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५-१५८७) के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं बिट्ठलनाथ (सं० १५७२-१६४२) का गद्य सामने आता है। इन्होंने 'शृंगाररस-मंडन' और 'राधाकृष्ण विहार' नामक दो ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखे थे।

व्यवस्थित ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक हरिराय

सत्रहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा-गद्य-लेखकों में सबसे पहला नाम हरिराय का आता है। इनका जीवनकाल सं० १६०७ माना गया है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एवं संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे ज्ञाता बताए गए हैं। इनके 'भाव भावना' नामक गद्य ग्रन्थ की भाषा इस प्रकार की है—

सो पुष्टि मार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनीजी के भावते हैं। ताते मंगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनीजी के चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं जिनकी उपमा देवे कों मन दसो दिसा दोरयो। परन्तु कहूँ पायो नहीं। पीछे श्री स्वामिनीजी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तब उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जैसे श्री ठाकुरजी को अधर बिब आरक्त हैं रस रूप तेसेई श्री स्वामिनीजी के चरण आरक्त हैं। नाते श्री चरण कमल को नमस्कार करत हैं। तिनमें अनवट, बिछुआ, नूपुर आदि आभूषण हैं।

यह गद्य बिल्कुल स्पष्ट और व्यवस्थित है। इससे पता लगता है है कि संवत् १६१० के लगभग गद्य का प्रयोग ग्रन्थ रचना के लिए बराबर किया जाता थो। उक्त आवरण में 'स्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है।

इसी समय के लगभग 'चोरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ वामन वैष्णवों की वार्ता' का गद्य सामने आता है। अब तक ये ग्रन्थ

वार्ताएँ और उनका गद्य

गोस्वामी बिट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के नाम पर, जिनका समय सं० १६२५ से १६४० के आस-पास है, प्रचलित थे। अब कुछ आलोचकों का कहना है कि ये ग्रन्थ उसके किसी शिष्य के रचे हुए होना चाहिए। जो हो, ये 'वार्ताएँ सत्रहवीं शताब्दी में रची मानने के लिए प्रायः सभी विद्वान् तैयार हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

(१) चौरासी वैष्णवों की वार्ता

तब सूरदासजी ने अपने स्थल मे आय के श्री आचार्यजी महाप्रभून को दर्शन को आये। तब श्री आचार्यजो महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवो बैठो। तब सूरदासजी श्री आचार्यजी महाप्रभून के दर्शन करिकै आगे आय बैठे। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश वर्णन करौ। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा।

(२) दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता

नंददासजी तुलसीदासजी के छोटे भाई हते। सो बिनकूँ नाच-तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शौक हतो। सो वा देश मे सूँ एक संग द्वारका जात हतो। सो नंददासजी ऐसे विचार वें श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूँ जाऊँ तो अच्छौ है। जब बिनने तुलसीदासजी सूँ पूँछी तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त हते। जासूँ बिनने द्वारका जायबे की नाहीं कही।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य गद्य लेखकों में नन्ददास, नाभादास, तुलसीदास, बनारसीदास, किशोरदास और वैकुण्ठमणि शुक्ल के गद्य-ग्रन्थों का पता लगता है। ये ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से तो विशेष महत्त्व के नहीं हैं तथापि व्रजभाषा के विकास की दृष्टि से उनका मूल्य

भक्तिकाल के अन्य गद्य-लेखक

अवश्य है, इनसे हमें तत्कालीन गद्य भाषा के रूप का कुछ परिचय अवश्य मिलता है, और हम यह कहने का अवसर भी पाते हैं कि हमारे कवि कभी-कभी गद्य में भी लिखा करते थे। इन सब लेखकों की भाषाओं को 'वार्ताओं' की भाषा का सौ डेढ़ सौ वर्षों में विकसित रूप नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य ठीक है कि ब्रजभाषा गद्य में यदा-कदा ग्रन्थ अवश्य लिखे जाते थे।

रीतिकाल का हिन्दी-गद्य—टीकाएँ

उक्त लेखकों के पश्चात् इस गद्य का विकास नहीं हुआ। रीतिकाल के लेखकों ने तो इसका प्रयोग काव्य-ग्रन्थों की केवल शाब्दी टीका करने के लिये किया; यहाँ तक कि कदाचित एक भी स्वतन्त्र और प्रौढ़ ग्रन्थ इस समय के गद्य में नहीं लिखा गया। टीका और भाष्य इस समय के अवश्य मिलते हैं—एक 'बिहारी सतसई' की ही कई टीकाएँ पाई जाती हैं। टीकाकारों में सुरतिमिश्र किशोरदास और सरदार कवि का नाम उल्लेखनीय है। भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नहीं है। कारण, इनकी भाषा प्रायः अव्यावहारिक और अव्यवस्थित है तथा शैली अपरिमार्जित और पण्डिताऊ ढंग की।

'रामचन्द्रिका' की टीका का एक उदाहरण देखिए—

राघव सर, लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि के गयो॥

टीका—सबल कहे अनेक रंग मिश्रित हैं, अंस कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं, जिन सहित मानो कलिदगिरि-शृंग ते हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है, हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्यन के सदृश अनेक रंग-नग जटित मुकुट है।

इस युग मे लिखी गई प्रायः सभी टीकाएँ इसी भाषा-शैली में हैं। प्राय. अधिकाँश स्थलों पर इन टीकाओं का गद्य सरल और स्पष्ट न होकर दुर्बोध और अस्पष्ट हो गया है।

खड़ी बोली का क्षेत्र दिल्ली और मेरठ के आस पास था। यह इन

पश्चिमी प्रदेशों में बोल-चाल के साधारण व्यवहार में आती थी। जब मुसलमान भारतवर्ष में आए तब विचार-विनिमय के लिए उन्हें जनता की इस साधारण भाषा का चलताऊ ज्ञान प्राप्त करना—दैनिक आवश्यकताओं-सम्बन्धी भाव व्यक्त करने वाले शब्द जानना—जरूरी हो गया। राजस्थानी, ब्रजभाषा आदि को छोड़कर इन्होंने खड़ी बोली को ही क्यों अपनाया, इसके दो कारण थे। पहली बात तो यह कि वे भाषाएँ एक प्रकार से साहित्यिक हो चली थीं और खड़ी बोली जनता की भाषा थी। दूसरे, पंजाब के पश्चात् मुसलमानों के पैर दिल्ली-मेरठ के आस-पास जमे, जो खड़ी बोली का क्षेत्र था।

खड़ी बोली

मुसलमानों के दिल्ली-मेरठ के आस-पास बस जाने से खड़ी बोली का काम केवल इतना ही हुआ कि वे उसके अनेक शब्दों से परिचित हो गये। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में इन मुसलमानों ने उत्तरी भारत की विजय का प्रयत्न किया और सफल हो जाने पर शासक-रूप में ये अनेक भिन्न प्रान्तीय नगरों में बस गए। इस प्रकार जिन शब्दों का ज्ञान इन्हें हुआ था, वे दूसरे स्थानों में भी फैल गए। यही क्रम सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में चलता रहा और ज्यों-ज्यों मुसलमानों का राज्य उत्तरी-भारत में फैलता गया, त्यों-त्यों खड़ी बोली का क्षेत्र भी बढ़ता रहा, धीरे-धीरे उसका प्रचार सारे देश में हो गया। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की अवनति होने पर खड़ी बोली को अपना क्षेत्र बढ़ाने का दूसरा अवसर मिला। दिल्ली, मेरठ आदि के आस पास की जिस जनता में खड़ी बोली का प्रचार बहुत पहले से था, वह आक्रमणकारियों के भय से जान-माल की रक्षा तथा जीविकोपार्जन के लिए लखनऊ, आगरा, प्रयाग, बनारस आदि पूर्वीय नगरों में आकर बस गई। अपने साथ यह खड़ी बोली भी लाई थी। इस प्रकार खड़ी बोली का इन नये नगरों में प्रचार बढ़ता गया।

खड़ी बोली का प्रचार

'वार्ताओं' में खड़ी बोली के कुछ प्राचीन रूप मिलते हैं। इनकी

खड़ी बोली का गद्य

रचना के लगभग २५ वर्ष पहले गंगाभाट की, जो अकबर के दरबार में थे, 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक लिखी मिलती है, जिसकी भाषा पर यद्यपि ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है तथापि वह खड़ी बोली का प्राचीन रूप ही है। इसी से गंगाभाट को ही हम खड़ी बोली का सर्वप्रथम गद्य-लेखक मान सकते हैं। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

श्री दलपति जी अकबरसाह जी आमखास में तखत ऊपर विराज मान हो रहे और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसिल से। जिनकी बैठक नहीं रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

चन्द छन्द बरनन की महिमा (सं० १६२७ के लगभग)

गंगकवि के लगभग पौने दो सौ वर्ष पश्चात् होने वाले खड़ी बोली के दो गद्य-लेखकों का पता इधर और लगा है। इनमें प्रथम का नाम रामप्रसाद 'निरन्जनी' है। ये पटियाला दरबार में महारानी को कथा सुनाने के लिए नौकर थे। इनका लिखा 'भाषा योगवाशिष्ट' नाम का एक गद्य-ग्रन्थ मिला है। इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और परिमार्जित है। इसका एक उदाहरण देखिये—

मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्मतत्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो। तब विगत ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बन्धन में न आओगे।

दूसरे लेखक का नाम दौलतराय है। ये मध्यप्रदेश के निवासी थे। इन्होंने सन् १७६१ में हरिषेणाचार्य कृत 'पद्म पुराण' ग्रन्थ का खड़ी
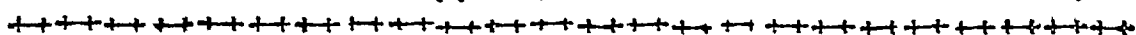
बोली में अनुवाद किया था। यह लगभग ७०० पृष्ठों में पूरा हुआ है। इसकी भाषा का नमूना यह है—

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं। इंद्र के लोक के समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठोन के बाड़े शोभायमान है, जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मंडोवर का वर्णन' नामक एक और निबन्ध सन् १७८० के लगभग का लिखा मिलता है। इसके लेखक के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि वह राजस्थान का निवासी था। इस ग्रन्थ की भाषा का नमूना यह है—

अवल में यहाँ मांडक रिसी का आश्रम थो। इस सबब से इस जगह का नाम मांडकाश्रम हुआ। इस लफ़्ज का बिगड़कर मंडोवर हुआ है।

रीतियुग के समाप्त होने के पहले ही भारत में अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित होना आरम्भ हो गया था। इस शक्तिशाली विदेशी जाति की प्रभुता और प्रधानता जैसे तैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे राजनीतिक क्षेत्र में तो आन्दोलन होता ही गया, समाज और धर्म में भी क्रान्ति की एक लहर-सी आ गई। अँगरेजों के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी आदर्श भिन्न थे—दक्षिण और पूर्व में उनकी शीघ्र विजय ने तो हमें जितना उनकी ओर आकर्षित किया उससे कहीं अधिक आश्चर्य में डाल दिया था। अँगरेजों को सबसे पहले तो भारत में अपना व्यापार-क्रम निर्विघ्न और निरापद करना था, इसके पश्चात्—परन्तु कार्य रूप में इसके पहले ही—उन्हें अपनी राज्य-सत्ता भी स्थापित करनी थी। अँगरेज पादरी अपना ईसाई धर्म भी डरते-डरते प्रचारित करना चाहते थे।

अँगरेजों का आगमन

अँगरेजों को जब गद्य की आवश्यकता हुई तब उन्होंने खड़ी बोली

खड़ी बोली का अपनाया जाना

के उक्त दोनों ही रूपों को अपनाया। प्रथम रूप अर्थात् खड़ी बोली को अपनाने का प्रधान कारण यह था कि इसका प्रचार-प्रसार प्रायः समस्त भारतवर्ष में था और सभी उन्नत नगरों के शिष्ट जनों की यही व्यावहारिक भाषा थी। खड़ी बोली के दूसरे रूप उर्दू को वे इसलिए अपनाने पर विवश हुए कि वह यहाँ ही राज-भाषा से सम्बन्धित थी। यह भी सम्भव है कि इसके अपनाने में कोई राजनैतिक दूरदर्शिता छिपी हुई हो। परन्तु खड़ी बोली का अपनाना तो उनके लिए लाभदायक भी था और सुविधाजनक भी। स्वयं अँगरेज भी भारत के दक्षिणी और पूर्वीय प्रान्तों में बसकर इस भाषा से परिचित हो चुके थे।

(ख) प्रगति-चिन्ह-काल

(सन् १८०० से १८२५ तक)

सन् १८०० के पूर्व तक गद्य-भाषा पूर्ण रूप से व्यावहारिक हो चुकी थी। इसके पश्चात् लगभग ७५ वर्षों में इस व्यावहारिक भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न हुआ। इन वर्षों में मुंशी सदासुखलाल, ईशाउल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने इस सम्बन्ध में सराहनीय प्रयत्न किया। इन्हीं के उद्योग से हिन्दी-गद्य ने साहित्यिक रूप ग्रहण करने की ओर पैर बढ़ाया। अँगरेजों ने इस कार्य के लिए अन्तिम दो लेखकों को थोड़ा-सा प्रोत्साहन दिया था, क्योंकि सन् १८०३ के लगभग कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कालेज के अध्यक्ष जान-गिलक्रिस्ट ने इनसे गद्य की कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई थीं। परन्तु प्रथम दो लेखक इसके पूर्व ही अपने कार्य में स्वांतःसुखाय प्रवृत्त हो चुके थे।

मुन्शी सदासुखलाल

इन्होंने आरम्भ में तो 'जब उमंग आई तब' हिन्दी, उर्दू और फारसी में लिखा; परन्तु वस्तुतः इनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सुखसागर' है जो श्रीमद्भागवत के स्वतन्त्र अनुवाद के रूप में उपलब्ध है। यह 'भक्तिभाव से प्रेरित होकर'

'नियाज'(सन् १७४६ से १८२४ तक) अर्थात स्वांतः सुखाय लिखा गया था। अतः विषय की दृष्टि से 'सुखसागर' भले ही मौलिक न समझा जाय; परन्तु साहित्यिक गद्य की पहली कृति होने के कारण साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदैव महत्त्व का रहेगा। उनकी भाषा का नमूना यह है—

इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष मे चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाडाल होता है यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमे इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते है कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगो को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धनद्रव्य इकठौर कीजिये और मन को जो तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।

—सुखसागर (सन् १८१८)

गद्य में ग्रन्थ-रचना करने लिए मुन्शीजी को न तो प्रेरणा ही किसी अन्य से मिली और न किसी आदर्श का अनुकरण ही उन्होंने किया। 'सुखसागर' लिखने के लिए उन्होंने 'भाखा' के उस रूप को ग्रहण किया जिसको अप्रचलित होता देख कुछ दुख के साथ उन्होने लिखा था—

रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।

संस्कृत शब्दों की प्रचुरता के साथ-साथ इस कथा भाषा मे मुन्शीजी ने खड़ी बोली के क्रिया, संज्ञा और सर्वनाम शब्दो तथा कारकों की विभक्तियों को भी अपनाने का सफल प्रयत्न किया। उनकी भाषा की यह विशेषता खड़ी बोली के स्वतन्त्र विकास और स्वतंत्र अस्तित्व की परिचायक है।

बाल्यकाल से ही फारसी की शिक्षा का इनके लिए उचित प्रबन्ध

किया गया था। प्रतिभा इनमें थी और थोड़ी ही अवस्था में ये फारसी तथा उर्दू में कविता करने लगे थे। हिन्दी में इनकी लिखी 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है। इसके लेखक का उद्देश्य भाषा के एक विशेष रूप पर अपना अधिकार दिखाना था। इन्होंने ऐसी भाषा में कहानी लिखने का प्रण किया था जिसमें—

इंशाअल्लाखाँ
(मृत्यु सन् १८२६)

(क) हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।

(ख) बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।

(ग) हिन्दवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो।

इन वाक्यों में प्रयुक्त, 'और किसी बोली' तथा 'बाहर की बोली' से लेखक का तात्पर्य अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी बोलियों से जान पड़ता है। 'गँवारी' से, सम्भव है, संकेत व्रजभाषा और अवधी आदि की ओर है और 'भाखापन' का प्रयोग संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के लिए किया गया है; क्योंकि मुसलमान संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त भाषा के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया करते थे। अतः खाँसाहब अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी तथा संस्कृत, व्रज और अवधी आदि देशी भाषाओं के शब्दों से रहित जिस भाषा में अपनी कहानी लिखना चाहते थे, वह साधारण बोलचाल की भाषा में न होकर ठेठ घरेलू बोली होगी; क्योंकि बोलचाल की भाषा में उक्त भाषाओं के शब्द तत्सम, तद्भव रूप में अवश्य प्रयुक्त होते थे। अतः ठेठ घरेलू बोली के लिए ही उन्होंने 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया था। खाँ साहब अपने प्रयत्न में थोड़े-बहुत सफल भी हुए हैं। इनकी भाषा का एक छोटा-सा नमूना देखिए—

अच्छापना घाटों का कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। जितनी ढबकी नावें थीं सोनहरी, रूपहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई सौ-सौ लचके खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ फिरतियाँ थीं।

—रानी केतकी की कहानी

ये बहुत विद्वान् नहीं थे। संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू का इन्हें सामान्य ज्ञान था। ब्रजभूमि के निकट आगरे के निवासी होने के कारण ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। 'प्रेमसागर' की रचना की थी। इसका विषय एक प्रकार से साधारण कहानी मात्र है। इसलिए उनकी भाषा बोलचाल की होनी चाहिए थी। परन्तु 'यामनी भाषा' छोड़ने का जो प्रतिबन्ध उन्होंने लगा लिया था उसके फलस्वरूप दिल्ली, आगरे के आस-पास की खड़ी बोली अपनाने पर भी उन्होंने उसे अरबी फारसी के शब्दों से बचाने का पूरा प्रयत्न किया। यद्यपि 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' आदि ग्रन्थ भी गद्य में ही लिखे; परन्तु अरबी-फारसी के शब्दों से बचने का जो प्रयत्न 'प्रेमसागर' से मिलता है वह उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं। हाँ, संस्कृत के तत्सम शब्दों को उन्होंने सहर्ष अपनाया है। यही नहीं भाषा खड़ी बोली रखने का निश्चय होने पर भी 'प्रेमसागर' में ब्रज भाषा के रूपों की प्रधानता है। इसका कारण कदाचित इनका आगरा निवासी होना हो। 'प्रेमसागर' की भाषा का नमूना यह है।

लल्लूलाल
(सन् १७६३ से १८२५ तक)

मणि का प्रकाश दूर से देख यदुवशी खड़े हो श्रीकृष्णचन्द्रजी से कहने लगे कि महाराज, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा किए सूर्य चला आता है। तुमको ब्रह्मा, रुद्र, इंद्रादि सब देवता ध्यावते हैं और आठ पहर ध्यान धर तुम्हारा यश गावते हैं। तुम्हीं आदि पुरुष अविनाशी, तुम्हें नित सेवती है कमला भई दासी।

❀ ❀ ❀ ❀

निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, तांडव नाचसंगीत शास्त्र की रीति से गाय-गाय लगे रिझाने।

—प्रेमसागर (सन् १८०३)

फोर्ट विलियम कॉलेज के दूसरे अध्यापक सदल मिश्र थे, जिनको गद्य की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने की अधिकारियों ने आज्ञा दी थी।

सदल मिश्र
(सन् १७६८ से
१८४७ तक)

मिश्रजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने उक्त आज्ञा का पालन करने के लिये संस्कृत के 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रंथ के आधार पर यही नाम देकर एक ग्रंथ लिखा। इसकी भाषा का एक नमूना यह है—

जो नर चोरी आदि नाना भांति के कुकर्म में आप तो दिन रात लगे रहते हैं तिस पर भी औरों को दूखते हैं, वो एक अक्षर भी जिससे पढ़ते हैं विसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महानरक को देखते हैं कि जब तक संसार बना रहता है।—नासिकेतोपाख्यान (सन् १८०३)

इनकी भाषा में व्रजभाषा के पंडिताऊपन सूचक तथा पूर्वी-बोली के रूप, यथा 'इहाँ,' 'तिस पर', 'बिसे', 'जौन-जौन', 'जाननिहार', 'तिन की आज्ञा पाय', 'मतारी' 'बाजने लगी', आदि अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनकी वैसी प्रचुरता नहीं है जैसी लल्लूलाल की भाषा मे है। तुकों और अनुप्रास से भी मिश्रजी ने अपनी भाषा को यथासंभव बचाया ही है। परन्तु लल्लूलाल की तरह अरबी-फारसी की छूत से बचने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। इन भाषाओं के साधारण प्रचलित शब्दों को तो उन्होंने अपनाया ही, साथ-साथ इंशाअल्ला खाँ ने भी अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में मुहावरों का प्रयोग किया था, परन्तु मिश्र जी की भाषा में प्रचलित मुहावरो के प्रयोग में एक नवीनता मिलती है। खाँ साहब के मुहावरे मुख्यतः उर्दू के हैं; इसके विपरीत, मिश्रजी ने ठेठ हिन्दी के मुहावरों—विपत्ति काटना, मलीन होना, गिड़गिड़ा कर कहना आदि—का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। व्याकरण के नियमों का पालन मिश्रजी ने कुछ अव्यवस्थित रूप से ही किया है। 'न' लगा कर बहुवचन भी उन्होंने बनाये हैं; जैसे, सबन, हाथन, कानन, प्रहसन और 'न्ह' लगा कर भी जैसे 'सबन्ह', 'फूलन्ह', 'सोनन्ह', 'कोटिन्ह', 'बहुतेरन्ह', आदि। 'ओं' भी कुछ बहुवचन-रूपों में मिलता है जैसे, सबों, ब्राह्मणों, औरों, नरकों, सेवकों आदि। 'वो' और 'औ' जैसे प्रयोग भी इनके ग्रंथ में मिलते हैं।

तुलनात्मक आलोचना

धर्म-प्रचार-कार्य को लेकर इसी समय ईसाई-पादरी भी हिन्दी गद्य की उन्नति में सहयोग दे रहे थे। उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि अधिकांश भारतवासियों की व्यावहारिक भाषा प्रायः खड़ी बोली है। इसलिये इसी में उन्होंने अपने धर्म-प्रचार-कार्य के लिये बाइबिल का अनुवाद करना आरंभ किया। सन् १८०६ मे विलियम केटे नामक पादरी द्वारा यह काम शुरू हुआ। इन्होंने बाइबिल का एक भाग 'नए धर्म-नियम' के नाम से प्रकाशित किया। ईसाई धर्म-संबंधी कुछ अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित की गईं। इन सबका उद्देश्य भी ईसाई धर्म फैलाना ही था। सन् १८१८ तक बाइबिल का पूरा अनुवाद प्रकाशित कर दिया गया। इन ग्रंथो की भाषा ठेठ खड़ी बोली थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें व्रजभाषा के रूपों का तो अभाव-सा है, पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। बोलचाल के ठेठ शब्द भी इसमें बहुत मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधारण हिन्दू जनता में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये ही ईसाई पादरियों ने ऐसी भाषा अपनाई थी। अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी बराबर इसमे प्रयोग किया गया है। जिस उद्देश्य को लेकर अपने कार्य में ईसाई पादरी प्रवृत्त हुए थे, उसकी पूर्ति के लिये ऐसा करना आवश्यक ही था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अरबी-फारसी को उन्होंने उसी सीमा तक स्वीकार किया, जहाँ तक हिन्दू-जनता को अपने भाव समझाने के लिये आवश्यक था।

ईसाइयों की हिन्दी-सेवा

बाइबिल के अनुवाद में 'करनो', 'बिमारी', 'अँगोछा', जैसे ठेठ खड़ी बोली के शब्द तो अवश्य हैं, परन्तु 'भोजन', 'इच्छा', 'अनंत जीवन', 'आनंद', 'परमेश्वर', 'करुणा', 'कारण', 'प्रकाश', 'उदय', 'उत्तर', 'रीति', 'धर्म', 'तुरन्त', 'जल', 'स्वर्ग', 'द्वार', 'ईश्वर', 'आत्मा' 'कपोत', 'आकाशवाणी', 'प्रियपुत्र' आदि संस्कृत के तत्सम रूपों की ही प्रधानता हैं। 'मजदूरी' जैसा एक-आध शब्द फारसी का भी मिलता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भाषा हिन्दुओं की ही थी और इसका प्रचार बढ़ रहा था।

(ग) प्रगति प्रस्तावना-काल

(सन् १८२५ से १९०० तक)

गद्य की उन्नति के लिये आन्दोलनों का सहारा

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य के भावी विशाल वृक्ष का बीजारोपण किया गया। तैयार भूमि में पड़ा हुआ सामान्य बीज शक्ति-संचय करके अंकुरित होने के लिये कुछ समय चाहता है। गद्य-वृक्ष का बीज भी प्रस्फुटित होने के लिए लगभग ५० वर्ष तक शक्ति-संचय करता रहता। थोड़ा-बहुत कार्य जो इन ५० वर्षों में हुआ वह साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है। परन्तु उसका सम्बन्ध पिछले काल के कार्य से अवश्य है। उस समय गद्य में लिखने का कार्य मुख्यतः तीन ओर से—१—शिक्षा सस्थाओ की; २—ईसाई धर्म के प्रचारकों की; ३—स्वांतः सुखाय साहित्य-सेवा करने वालों की;—आरंभ हुआ था।

शिक्षा-प्रचार और हिन्दी-गद्य

आरम्भ मे हिन्दी के शिक्षा-संबंधी पाठ्य ग्रंथों की भाषा का आदर्श ईसाइयों द्वारा व्यवहृत ग्रामीण शब्दो की प्रधानता लिए खड़ी बोली मानी गई। इस समय तक शिक्षालयों में सस्कृत और अरबी की पढ़ाई पर भी ध्यान दिया जाता था। दोनों भाषाओं के शिक्षालय अलग-अलग थे। जनता इन भाषाओं का सम्मान करती थी और सरकार भी थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता इन्हें देती है। जब अँगरेजी की शिक्षा का प्रबंध हो गया तब जनता और सरकार, दोनों का ध्यान इन भाषाओं की शिक्षा की ओर से हटने लगा। फल यह हुआ कि संस्कृत और अरबी की शिक्षा-संस्थाओं को जो सहायता और सुविधा प्राप्त थी वह धीरे-धीरे बन्द हो गई। शिक्षा के माध्यम और भाषा के प्रश्न पर बहुत समय तक विचार किया गया। अन्त में ७ मार्च सन् १८३५ को मेकाले की कृपा से अँगरेजी को सर्वोच्च स्थान देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। अँगरेजी स्कूल खुलना वस्तुतः इसी समय से आरम्भ होते हैं।

शिक्षालयों में शिक्षा के माध्यम की समस्या

सन् १८३५ के लगभग आगरे और कलकत्ते में पादरियों ने एक-एक पुस्तक प्रकाशन संस्था 'स्कूल बुक सोसाइटी' के नाम से स्थापित की। इनका कार्य संभवतः जनता की प्रचारोपयोगी भाषा में पाठ्य पुस्तकें लिखवा कर प्रकाशित करना था। हिन्दी गद्य मे विविध विषयों के ग्रंथ लिखने का आरंभ इसी समय से होता है। इन सोसाइटियो ने विविध विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। इस व्यवसाय में उस समय इन संस्थाओ को बड़ा लाभ हुआ। इसलिए आगरे और कलकत्ते की उक्त संस्थाओ की देखा-देखी कई प्रकाशन-संस्थाएं और प्रेस खोले गये। इनमें इलाहाबाद का 'मिशन प्रेस' और मिर्जापुर का 'आरफेन प्रेस' मुख्य है। इन प्रेसों ने कई रीडरो के अतिरिक्त सन् १८५५ स ६५ तक भिन्न विषयो की बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। प्रायः इन सभी की भाषा विशुद्ध हिन्दी हे जिस पर पंडिताऊ ढग का भा यत्र-तत्र प्रभाव पड़ा है।

शिक्षा-संबंधी पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य

सन् १८५६ में इंसपेक्टर होने पर राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को पाठ्य पुस्तके बनानी और बनवानी आरंभ कीं। इनकी भाषा उर्दू रहित बहुत सरल ठेठ हिन्दी है जिसमें सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द पर्याप्त मात्रा मे प्रयुक्त हुए ह। 'राजा भोज का सपना' की भाषा ऐसी ही है। इसके कुछ समय पश्चात् लिखे 'मानव धर्म-सार' नाम की पुस्तक की भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग कुछ अधिक ही हुआ है। 'राजा भोज का सपना' (सन् १८५८) की भाषा विशुद्ध हिन्दी है। इसमे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, फारसी-अरबी के तत्सम शब्दो का नितांत अभाव है। हाँ, इरादा दाग, दर्ज, जवान, आफत, मुल्क, तमाशा, खुशामद, जुल्म, तहकीकात, दुरुस्त, अर्से आदि प्रचलित शब्द इस पुस्तक में अवश्य मिलते हैं। गद्य-भाषा के विकास की दृष्टि से वर्तमान साहित्यिक गद्य का यह सब से प्राचीन और निकटतम रूप समझना चाहिए। 'दमयन्ती की कथा' और 'मानव धर्म सार'

राजा शिवप्रसाद की प्रारंभिक भाषा

आदि राजा साहब के निबन्धों की भाषा भी ऐसी ही है।

परन्तु सन् १८६० के पश्चात् राजा शिवप्रसाद हिन्दी-भाषा के इस विशुद्ध रूप के स्वयं विरोधी हो गए। अतः सन् १८६० के पश्चात् उन्होंने जो पुस्तकें लिखीं अथवा लिखाईं उनकी भाषा अरबी-फारसी-प्रधान रखीं। व्यावहारिक भाषा में अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द अवश्य आएँगे, परन्तु ये शब्द गिने-चुने और प्रचलित ही होने चाहिएँ। सन् १८६० के पश्चात् राजा साहब ने अपने लिखे ग्रन्थों में अरबी-फारसी के दो-एक शब्द न रख कर उन की प्रधानता करदी है। अपने पूर्व ग्रन्थों में संस्कृत शब्दों का जिस अनुपात में उन्होंने प्रयोग किया है प्रायः उसी अनुपात में उन्होने विदेशी शब्द रखे हैं। पूर्व ग्रन्थों के 'संध्यावंदन', 'प्रभाव', स्तुति', 'वंदना', 'विनती प्रार्थना', 'ईश्वर', 'सत्य', 'दीनबंधु', 'शुद्ध हृदय', 'निष्कपट', 'नम्रता', 'श्रद्धा', 'दुष्कर्म', 'पश्चात्ताप', आदि अनेक संस्कृत शब्द जितनी पंक्तियों में आए हैं, उतनी ही पंक्तियों में, 'जवान', 'कदर', 'कायस', 'बाकी', 'बेहतर', 'दरवाजा', 'हमेशा', 'बेशक', 'लफ्ज', 'मुल्क', 'दुनियां', 'मूजिब', 'नुकासन', 'मुनासिब', 'पुश्त', 'दर्मयान', आदि अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। विदेशी शब्दों से इतनी लदी भाषा को जो हम हिन्दी कह कर पुकारते हैं उसका कारण बीच बीच में प्रयुक्त व्याकरण, भूमियों, असंभव, मनुष्य, धारा आदि दो चार संस्कृत शब्दों का प्रयोग है।

राजा साहब की भाषा का रूप परिवर्तन

राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत, प्राकृत, ब्रजभाषा, अँगरेजी, फारसी, अरबी, बँगला तथा गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया था। परन्तु हिन्दी भाषा के गद्य-रूप के सम्बन्ध में उनके विचार आरम्भ से ही स्थिर थे। राजा शिवप्रसाद की संस्कृत-प्रधान भाषा के ये पक्षपाती थे; परन्तु सन् १८६० के लगभग जब उन्होंने भाषा-संबन्धी अपनी नीति बदली तब इन्होंने अपने मत की पुष्टि और रुचि के अनुसार शुद्ध हिन्दी का प्रचार करने के लिये सन् १८६२ में 'प्रजा-हितैषी'

राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६ से १८९६)

नामक पत्र आगरे से प्रकाशित किया। इस पत्र में इन्होंने संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार कालिदास के सर्व श्रेष्ठ नाटक का हिंदी गद्य में अनुवाद किया। सन् १८६३ में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद का बड़ा आदर हुआ। भारत में ही नहीं, बाहर भी सर्वत्र इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। सन् १८७५ में फ्रेडरिक पिनकाट नामक अँगरेज ने इँगलैण्ड में इसे प्रकाशित किया और कई वर्ष तक यह सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत रहा। 'शकुन्तला' के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'रघुवंश' का अनुवाद किया। इनकी भाषा के सम्बन्ध में राजा साहब के उन विचारों से कुछ प्रकाश पड़ता है जो उन्होंने 'रघुवंश' के गद्यानुवाद की भूमिका में इस प्रकार प्रकट किए हैं—

हमारे मत मे हिन्दी उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुये हिन्दुओं के बोलचाल की भाषा है। हिन्दी में संस्कृति के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।

राजा साहब अपने इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' 'रघुवंश' और 'मेघदूत' का शुद्ध हिन्दी अनुवाद किया है।

राजासाहब के अनुवाद, उनकी भाषा

इन तीनों ही ग्रन्थों की भाषा प्रायः एकसी है। साधारणतः वह राजा शिवप्रसाद के पिछले ग्रन्थों की भाषा के तो विरुद्ध है परन्तु पूर्व ग्रन्थों की भाषा के अत्यन्त निकट है। इसे उसका विकसित रूप भी कह सकते हैं।

कलकत्ते और संयुक्त-प्रान्त मे शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ हिंदी गद्य की प्रगति हुई थी, उसीके अनुरूप कार्य पंजाब में भी हो रहा

पंजाब में शिक्षा-कार्य

था। अन्तर केवल इतना ही था कि कलकत्ते और सयुक्त-प्रान्त में तो अधिकारियो की कृपा से उर्दू अपनी जड़ मजबूत बनाने लगी थी,

परन्तु पंजाब मे उसको अपने पैर फैलाने का अवसर उतनी सरलता से नहीं मिला। पंजाब में उन दिनों उर्दू के पक्षपातियों की कमी नहीं थी। वे लोग बड़ी तत्परता से अपनी भाषा का प्रचार करने में संलग्न थे। साधारणतः अप्राकृतिक कार्यों की प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्रता से होती है। यही बात यहाँ भी हुई। उर्दू के प्रति उसके बोलनेवालों का पक्षपात जितना ही बढ़ता गया, हिन्दी भाषा-भाषियों के हृदयों में मातृ-भाषा-प्रेम उतने ही वेग से बढ़ने लगा। अन्त में शिक्षा-प्रचार को लेकर हिन्दी और उर्दू का विरोध स्पष्ट रूप से सामने आया।

हिन्दी के पक्षपातियों में सबसे प्रसिद्ध नाम बाबू नवीनचन्द्र राय का है। संयुक्तप्रान्त के राजा शिवप्रसाद की तरह पंजाब के शिक्षा-विभाग मे ये भी अधिकारी थे। अतः शिक्षा-प्रचार, स्त्री शिक्षा आदि मे तो इनकी रुचि स्वाभाविक थी ही, समाज-सुधार के कार्यों मे भी ये बराबर भाग लिया करते थे। ईसाइयों का धर्म-प्रचार बढ़ने पर इन्होने उसका भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विरोध किया और बंगाल में प्रचलित राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज के आदर्श और सिद्धान्तो का वहाँ प्रचार किया। इन दोनों कार्यों—शिक्षा-प्रचार और ब्रह्मसमाज-सिद्धान्त-प्रचार—के लिए इन्होने पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित कीं। 'ज्ञान-प्रदायिनी-पत्रिका' उन्होंने मार्च सन् १८६७ में प्रकाशित की थी। ज्ञान-वर्धक सामग्री के अतिरिक्त इसमें उक्त दोनों उद्देश्यो से सम्बन्धित लेख भी रहते थे। इस कार्य के अतिरिक्त सन् १८६३ में इन्होने विभिन्न विषयों की अनेक पुस्तकें हिन्दी में तैयार की—कराईं। यह काम १७-१८ वर्ष—लगभग १८८० तक होता रहा। शिक्षा-विभाग में इन पुस्तकों का बड़ा आदर हुआ और तत्कालीन शिक्षालयों मे वे कई वर्ष तक पाठ्य ग्रन्थों के रूप में पढ़ाई गई थीं।

बाबू नवीनचंद्र राय

बाबू नवीनचन्द्रराय के हिन्दी-प्रेमी सहायक मित्रो और लेखकों में पंडित सुखदयालु शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये पंजाब के प्राच्य महा-विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे। बाबू नवीनचन्द्र की हिन्दी-प्रीति से प्रभावित होकर

पंडित सुखदयालु

शास्त्री

इन्होंने भी कुछ ग्रन्थ हिन्दी में लिखे थे। 'न्याय-बोधिनी' नामक इनकी एक पुस्तक का जनता मे बड़ा सम्मान था। भाषा के रूप की दृष्टि से भी नवीन बाबू के ही समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दो की अधिकता इनके शुद्ध हिन्दी-सम्बन्धी प्रयत्न की द्योतक है।

शिक्षा-प्रचार-कार्य के साथ धर्म-प्रचार भी हो रहा था। ईसाई भोले-भाले निर्धन वर्ग के हिन्दुओं को भुलावा देकर और लोभ दिखा-कर विधर्मी बना रहे थे। हिन्दू-धर्म सुधारको ने

धर्म-प्रचार और हिन्दी-गद्य

इस कार्य का विरोध किया। इस धर्म-प्रचार और विरोध का सहारा पाकर हिंदी-गद्य उन्नति करने लगा। कारण, यह कि वाद-विवाद, खंडन-मंडन, उत्तर-प्रत्युत्तर, आक्षेप-कटाक्ष, वाद-प्रतिवाद के लिये गद्य की आवश्यकता होती और भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ती है। हिंदी गद्य को ही दोनो पक्षों ने उक्त कार्यों के लिये अपनाया, इसीमे वाद-विवाद हुए, इसी मे व्याख्यान दिये गए और पुस्तकें भी लिखी गईं। इस प्रकार गद्य की उन्नति का द्वार जैसे खुल गया।

सबसे पहले ईसाइयों के धर्म-प्रचार का विरोध बंगाल में हुआ। राजा राममोहनराय हिंदू-धर्म-रक्षकों के नेता बने। इन्होंने 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना करके वेदांत और ब्रह्मज्ञान

हिंदू-धर्म रक्षा का प्रयत्न—राजा राम-मोहनराय

का अर्थ जनता को समझाने का प्रयत्न किया और सन् १८१५ में वेदांत सूत्रों के भाष्य का हिंदी में अनुवाद किया। चार वर्ष बाद 'बंगदूत' नाम का पत्र भी उन्होंने हिंदी में ही निकाला। उनके अनुयायियों ने भी उनकी तरह ही हिदी को अपनाया। फलतः बंगाल मे हिदी लेखकों की संख्या बढ़ने लगी।

हिंदू-धर्म-रक्षा का दूसरा प्रयत्न सन् १८७५ ई० मे बम्बई में 'आर्यसमाज' की नींव डाल कर किया गया। बहुत शीघ्र ही यह संस्था गुजरात, संयुक्तप्रांत और पंजाब मे जन-प्रिय हो

द्वितीय प्रयत्न—

गई। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४–

आर्य समाज और स्वामी दयानन्द

८३) के कार्यक्षेत्र में आते ही इस संस्था के कार्य ने प्रबल आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस अत्यन्त साहसी महापुरुष ने निर्भय होकर शासकों द्वारा प्रत्यक्ष सहायता-प्राप्त ईसाई मिशनरियों का विरोध तो एक ओर किया और कट्टर धार्मिक मुसलमानों की दूसरी ओर। साथ-साथ उन पंडितों से भी शास्त्रार्थ और विरोध करते वे न थकते थे जो देश की स्थिति की ओर से आँख मूँदे हुए अपनी पुरानी लकीर के फकीर बने चलने में ही अपने धर्म की रक्षा समझते थे।

तत्कालीन हिन्दी गद्य की उन्नति में भी स्वामीजी ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश', 'वेदांगप्रकाश', 'वेदों के भाष्य' इत्यादि ग्रंथ तो हिंदी में लिखे-लिखाए ही, साथ ही आर्य-समाज जैसी प्रगतिशील संस्था का सब काम हिंदी में ही करने का आदेश दिया। स्वामीजी हिंदी को भारत की व्यावहारिक भाषा और देश की भावी राष्ट्रभाषा होने योग्य समझते थे। उनके ग्रंथों में दो प्रकार की भाषा मिलती है। दोनों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; परन्तु एक में अरबी-फारसी के कुछ शब्द भी मिलते हैं और दूसरे प्रकार में जैसे वे उनकी छूत से बचते रहे हैं। दूसरे प्रकार की भाषा का नमूना यह है—

जैसे बलवान होकर निर्बलों को दुख देते और मार भी डालते हैं; जो मनुष्य-शरीर पाकर वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य-स्वभाव युक्त नहीं किंतु पशुवत् हैं और जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और स्वार्थवश होकर जो परहानिमात्र करता है वह जानो पशुओं का बड़ा भाई है।

स्वामी दयानन्द के अनुयायियों में पण्डित भीमसेन शर्मा और पंडित ज्वालाप्रसाद ने हिन्दी गद्य की उल्लेखनीय सेवा की है। शर्माजी

स्वामीजी के अनुयायी

भाषा की शुद्धता के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उनका आदर्श यह है—'जो जाति स्वतन्त्र भाषा का को अभिमान रखती हो......उसके लिए अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा

सकती। अपने इस विचार पर वे सर्वत्र दृढ़ रहे हैं; यहाँ तक कि उन्होंने अरबी-फ़ारसी शब्दों को भी संस्कृत रूप देकर—जैसे 'आसमान' और 'बंदर' के लिये 'आसमान' और 'बंधुर'—लिखना आरम्भ किया। पंडित ज्वालाप्रसाद का भाषा-संबंधी आदर्श स्वामी जी से मिलता-जुलता जान पड़ता है। पर वे अरब-फ़ारसी शब्दों के शर्माजी की तरह विरोधी नहीं थे। इसी से उनकी भाषा में धार्मिक व्यक्ति की भावुकता के साथ सरलता और प्रवाह मिलता है।

शिक्षा-प्रचार और धर्म-प्रचार के प्रश्नों से सर्वथा स्वतंत्र अथवा अंशतः सबद्ध रह कर हिन्दी-गद्य की उन्नति के लिये प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों की भी इस समय कमी नहीं थी। इस वर्ग के लेखकों मे भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण, भट्ट, अंबिकादत्त व्यास, बदरीनारायन चौधरी, 'प्रेमधन', श्रीनिवासदास, जगमोहनसिंह, तोताराम, इत्यादि प्रमुख है। हिन्दी-सेवा इनमें से अधिकांश के जीवन का प्रधान उद्देश्य था और प्रायः प्रत्येक ने दो-दो तीन-तीन पत्र-पत्रिकाएँ निकाल-निकलवा कर इसकी पूर्ति का सहराहनीय प्रयत्न किया था।

भारतेंदु के समकालीन साहित्य-सेवी

व्यासजी बड़े विद्वान, भारतेंदुजी के साहित्यिक मित्र और हिन्दी-गद्य के प्रसिद्ध लेखक थे। इनकी लिखी पुस्तकों की संख्या सत्तर से ऊपर बताई जाती है। बिहार के साहित्यिकों में इनका बड़ा मान था और विद्वत्ता के कारण इन्हें अनेक उपाधियाँ प्रदान की गई थी। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने गद्य-रचना की विवेचना भी की है। 'इन्होंने', 'उन्होंने' के स्थान पर ये 'इनने', 'उनने' लिखा करते थे।

पंडित अंबिकादत्त व्यास

'आनंदकादंबिनी' (मासिक) और 'नागरी नीरद' (साप्ताहिक) पत्रों के संपादक बाबू बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की भाषा शुद्ध परिमार्जित, सानुप्रास, चमत्कारयुक्त और शब्दालंकारों के भार से लदी है। इनके लंबे-लंबे

बाबू बदरी-

नारायण चौधरी 'प्रेमधन'

प्रयासपूर्ण वाक्यों ने लेखों को सर्व साधारण के लिये अबोधगम्य और साहित्यिकों के लिये हास्यपद बना दिया है। फिर भी गद्य को सजाने-सँवारने के आपके प्रयत्न ने भाषा को सुन्दरता अवश्य प्रदान की और सुन्दर शब्द-चयन ने उसे रोचक भी बना दिया है। 'भारत सौभाग्य' और 'वीरांगना-रहस्य' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

श्री निवासदास

अरबी-फारसी के शब्दों को अपने समकालीन हिंदी-सेवियों से अधिक अपना कर भाषा को उपन्यास, नाटक जैसे रोचक विषयों के योग्य बनाने वाले श्रीनिवासदास की लेखन-शैली पर वाक्य-विन्यास के अँगरेजी ढंग का भी प्रभाव पड़ा है। मुहावरों का काफी प्रयोग करके इन्होंने अपनी भाषा को स्वाभाविक और चलती रखना चाहा है। इसी से इनके नाटकों और निबंधो की भाषा शैली सरल, व्यवस्थित और सजीव है। 'परीक्षा गुरु', 'तप्ता संवरण' और 'रणधीर-प्रेम मोहिनी' इनकी प्रनुख रचनाएँ है।

ठाकुर जगमोहन-सिंह

संस्कृत और अँगरेजी के सहृदय विद्वान् विजय राघवगढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह भारतेंदु के ऐसे साहित्यिक मित्र थे जिन्होंने हिंदी गद्य की लेखन-शैली में काव्य की सरसता और मृदुता लाने का प्रयत्न किया। इसके लिए इन्हें साधारण प्रचलित शब्दों के साथ-साथ संस्कृत की तत्समता का आश्रय लेना पड़ा। बीच-बीच में यमक-अनुप्रास इत्यादि का प्रयोग करके अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए इन्होने अपनी रचना शैली को चमत्कारपूर्ण बनाना चाहा है। फलस्वरूप भाषा में प्रौढ़ता, परिमार्जन और शिष्टता होनें पर भी कहीं-कहीं अप्रिय कृत्रिमता मिलती है। 'श्याम स्वप्न' भाषा-शैली की दृष्टि से इनकी सुन्दर रचना है।

'स्त्री सुबोधनी' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक अलीगढ़ के वकील बाबू तोताराम 'भारतबंधु' नामक पत्र का संपादन करते हुए भी भारतेंदुजी की

बाबू तोताराम

'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में समय समय पर बाबू तोताराम नाटक और विविध विषयों पर लेख लिखा करते थे। इनकी संचालित 'भाषा बर्द्धिनी सभा' अपने समय की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था थी। 'केटो कृतांत', 'कीर्तिकेतु' और 'स्त्री-सुबोधिनी' इनकी अनुवादित और मौलिक रचनाएँ हैं। इनकी भाषा-शैली सरल है, जिसमें किसी प्रकार की नवीनता या विशेषता लाने का कोई प्रयत्न इन्होंने नहीं किया।

सारांश यह है कि भारतेंदुजी के समकालीन हिन्दी-सेवकों ने गद्य की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया। प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिकों

भारतेंदु-युग में हिन्दी-सेवा

के हाथ में उस समय एक-एक पत्र था और इसीलिये अपनी इच्छानुसार लिखने-पढ़ने को वे स्वतंत्र थे। जातीयता, धार्मिकता, और देश-प्रेम की भावना भी सब में समान रूप में वर्तमान थी और आज के से कोरे शिष्टाचार-प्रदर्शन का उसमें सर्वथा अभाव था। फलतः उन्होंने जो कुछ लिखा वह निडर होकर बड़ी जोरदार भाषा में और प्रभावोत्पादक ढंग से। इस युग का हिन्दी गद्य जो बहुत सप्राण, सजीव और ओजपूर्ण मिलता है उसका कारण यही है।

इस युग के साहित्यिकों का दूसरा सराहनीय कार्य यह था कि धर्म, समाज और राजनीति इत्यादि दैनिक विषयों को छोड़ कर स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, विज्ञान, आयुर्वेद, दर्शन-शास्त्र आदि साहित्य के अंतर्गत समझे जाने वाले सभी प्रमुख विषयों की रचनाओं का सूत्रपात उन्होंने किया। कार्य बहुत अधिक था, परन्तु तत्कालीन प्रत्येक साहित्य-सेवी में उत्साह भी कम नहीं था और इसलिये उस समय के एक-एक व्यक्ति की साहित्य सेवा एक-एक संस्था की सेवा के समान हो रही थी। नागरी-प्रचार और हिन्दी हिन्दू-हिन्दुस्तान आदि के प्रचारार्थ जो काम आज की अनेक संस्थाएँ कर रही हैं उससे कहीं अधिक वास्तविक कार्य उस समय के उक्त इने-गिने

व्यक्तियों ने केवल पन्द्रह-बीस वर्षों में कर लिया था। कोई नागरी का झंडा लिये फिरता था, कोई नित्यप्रति व्याख्यान दिया करता था और किसी-किसी ने इन कामों के लिये संस्थाएँ स्थापित कर भावी हिन्दी-सेवकों को उत्साहित करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। हिन्दी को अदालती भाषा बनाने के लिये भी अनेक प्रयत्न इस युग के साहित्यिकों और संस्थाओं ने किये। कोष-निर्माण-कार्य भी इस समय ही आरम्भ हुआ, पुराने कवियों की रचनाओं की खोज और उनका प्रकाशन भी साहित्यिकों का एक लक्ष्य था। संस्कृत, अँगरेजी तथा भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं—विशेषकर बँगला—के प्रमुख ग्रंथों के अनुवाद का काम भी इन्होंने ही आरम्भ कर दिया।

भारतेंदु युग में हिन्दी गद्य

भारतेंदु-युग के आरंभ होने तक हिन्दी गद्य का जन्म हो चुका था और शिक्षा-प्रचार, धर्म-प्रचार, समाज-धर्म-सुधार, देश-प्रेम और देशोद्धार आदि विषयों को लेकर गद्य में लिखने की परिपाटी भी आरंभ हो चुकी थी। प्रेस की सुविधा से तथा विभिन्न आंदोलनों का सहारा पाकर इस समय हिन्दी-गद्य ने बहुत शीघ्र उन्नति की। भाषा-रूप की दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इस युग में थोड़े परिवर्तन के साथ अपनायी गई, यद्यपि कुछेक ने राजा शिवप्रसाद का अनुकरण भी किया। इन दोनों रूपों का मध्यवर्ती एक तीसरा रूप भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने और प्रचलित किया जिसमे अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों को भी समान अधिकार दिया गया था। आगे चल कर भाषा के इस रूप ने ही विशेष उन्नति की।

आलोचना

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-काल मे हिन्दी की अपूर्व उन्नति होने पर भी आज की दृष्टि से वह प्रस्तावना मात्र थी। उस समय भाषा, गद्य-शैली और हिन्दी-साहित्य, सभी क्षेत्रों में बहुत-सी कमियाँ रह गईं। इनमें मुख्य ये हैं—

(१) भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ—
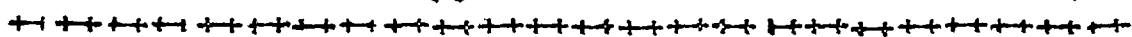
(क) इन्हैं, मुझै, बातै, जिस्से, इनने, उनने आदि अनेक अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करना कम न हुआ।

(ख) प्रांतीय शब्दों जैसे परग (पैर), भाँख (बोली) आदि का प्रयोग होता रहा।

(ग) ब्रजभाषा के प्रभाव से भी हिन्दी मुक्त न हुई।

(घ) व्याकरण-सम्बन्धी दोषों से रहित भाषा लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया। लोग मनमानी करते रहे।

(ङ) गंभीर विषयों के योग्य शब्दों की कमी बनी रही।

(२) शैली-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) प्रायः शैली का रूप अस्थिर ही रहा।

(ख) काव्योपम शैली में कृत्रिमता की मात्रा अधिक रही।

(ग) विराम चिह्नों का प्रयोग कम किया गया।

(३) विषय-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) लेख तो थोड़े बहुत लिखे गये, परन्तु अनेक गम्भीर विषयो की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(ख) उपन्यास, कहानियाँ आदि सरल विषयों के क्षेत्र में कुछ भी काम नहीं हुआ; केवल थोड़े से अनुवादों से ही काम चलाया गया। मौलिकता की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(ग) आलोचना का क्षेत्र खाली पड़ा रहा। कह सकते हैं, साहित्य ही नहीं था तब आलोचना किस की होती प्राचीन काव्य-साहित्य भी सुलभ न था।

(४) सम्पादन कला-सम्बन्धी त्रुटियाँ—

(क) पत्र-पत्रिकाएँ थोड़ी ही निकलीं और जो निकलीं भी वे अधिक उन्नति नहीं कर सकीं। तत्कालीन सम्पादक सम्पादन-कला से अनभिज्ञ थे।

(ख) पत्र-पत्रिकाओं को विविध-विषय विभूषित बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया।

हिन्दी-गद्य का प्रगति काल

(सन् १९०० से १९४० तक)

इस काल के आरंभ में हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित दो महत्व-पूर्ण हुए कार्य—(१) सन् १८९३ में कुछ हिन्दी-प्रेमी युवकों ने, जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामनारायण मिश्र भी थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की; (२) इस संस्था के कार्यकर्त्ताओं के प्रयत्न से सन् १९०० में इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सभा को काशी के अनेक उत्साही युवकों का सहयोग प्राप्त था और 'सरस्वती' का सम्पादन सन् १९०३ से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आरम्भ किया। इन सबके सदुद्योग से हिन्दी-प्रेमी लेखकों का एक बड़ा समूह भाषा और साहित्य की उन्नति के लिये प्रयत्नशील हुआ। जिन लेखकों ने इस शताब्दी में गद्य की उन्नति में विशेष सहायता दी है उनमें सर्वश्री गोविन्दनारायण मिश्र, माधव-प्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर-दास, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र', रायकृष्ण-दास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, रामदास गौड़, इत्यादि का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। नीचे प्रत्येक लेखक की हिन्दी-सेवा और भाषा-शैली के सम्बन्ध में संकेतरूप में विचार किया जायगा।

इस युग के प्रमुख लेखक

पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र

संस्कृत, प्राकृत, पंजाबी, मराठी, बंगाली और गुजराती इत्यादि भाषाओं के विद्वान और हिन्दी के प्रमुख निबन्ध-लेखक पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र की 'कवि और चित्रकार' (अपूर्ण) 'प्राकृत - विचार', 'सारस्वत-सर्वस्व', विभक्ति-विचार', 'आत्माराम की टें टें' (अपूर्ण) 'षट् ऋतुवर्णन' इत्यादि पुस्तकें उनकी स्पष्टवादिता निर्भयता और विद्वता की परिचायक हैं इनकी शैली संस्कृत की

'कादम्बरी' के गद्य-काव्य के ढंग की है जिसमे लम्बे-लम्बे समासांत पद, अनुप्रास, यमक के साथ-साथ विशेषणों का बाहुल्य है। भाषा भी तुर्कों की भरमार और पांडित्य-प्रदर्शन के बोझ से दबी है। फल-स्वरूप पाठक को इनसे साहित्यिक आनन्द भले ही न मिले, लेखक के अगाध पांडित्य से वह अवश्य प्रभावित होता है।

ओजपूर्ण भाषा और प्रभावोत्पादक शैली में अनेक विद्वतापूर्ण निबन्ध लिखने वाले पण्डित माधवप्रसाद मिश्र संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका अध्ययन ठोस और गम्भीर था। दर्शन-शास्त्र से इन्हें विशेष रुचि थी। अपने जीवनकाल में इन्होने 'सुदर्शन' नामक मासिक पत्र का सम्पादन किया। यह पत्र प्रधानतः साहित्यिक था। समय समय पर ये साहित्यिक और आध्यात्मिक विषयों पर सारपूर्ण लेख लिखा करते थे। भाषा इनकी बड़ी जोरदार है। बात यह है कि सत्य के समर्थन में आत्मा की आवाज ऊँची हो ही जाती है। प्रश्नवाचक वाक्यों की अधिकता से इनकी लेखनशैली का पाठकों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र

'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थों के लेखक 'मिश्र-बन्धुओं'—सर्वश्री गणेशबिहारी, शुकदेवबिहारी, और श्याम बिहारी—ने इस युग के आरम्भ में अपनी उक्त रचनाएँ प्रस्तुत करके बड़े धैर्य, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचय दिया था। आज ये रचनायें विद्वानों में विशेष महत्व की न समझी जाने पर भी कुछ काल पूर्व हिन्दी के प्रायः सभी इतिहास लेखकों के लिए सहायक ग्रन्थों-सी थीं। भाषा इनकी सीधी-सादी और सुबोध है तथा शैली अनगढ़ और स्वाभाविक।

मिश्रबन्धु

खड़ी बोली की कविता के क्षेत्र में भाषा के विविध रूपों में काव्य-रचना करके जिस कुशलता का परिचय इन्होंने दिया था, भाषा पर

पण्डित अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

वैसा ही अधिकार 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास ग्रामीणता और उर्दू पन से सर्वथा-रहित प्रवाहपूर्ण स्वाभाविक गद्य में लिखकर दिखाया। इनकी भाषा प्रयासपूर्ण, आलंकारिक होने पर भी विशेषता रहित नहीं है। मुहावरों का अतिशय प्रयोग करने की तो इधर इन्हें जैसे धुन-सी लग गई थी। 'कबीर वचनावली' की प्रस्तावना, 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' तथा अपने अन्यान्य निबन्ध इन्होंने संस्कृत की तत्समता से युक्त भाषा में लिखे थे। इनकी शैली भी वैसी ही प्रयासपूर्ण है।

स्वाध्याय और परिश्रम से संस्कृत, प्राकृत, डिंगल आदि प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने वाले महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भारतीय इतिहास के हिन्दू काल और प्राचीन लिपियों के सबसे बड़े विशेषज्ञ थे। प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री की खोज का काम आप वर्षों से कर रहे थे। सन् १८८८ में उदयपुर के राजकीय म्युजियम और पुस्तकालय के अध्यक्ष होकर इन्होंने यह काम शुरू किया था। अपनी खोज के आधार पर इन्होंने 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', 'सिरोही राज्य का इतिहास', 'राजपूताने का इतिहास', 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति', 'प्राचीन वर्णमाला' आदि महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी। इनमें द्वितीय और अन्तिम ग्रन्थ संसार के सभी प्रतिष्ठित इतिहासज्ञों में प्रशंसा पा चुके हैं और इन विषयों के इनसे अधिक प्रमाणित ग्रन्थ कदाचित् संसार की किसी भाषा में नहीं हैं। इनकी ऐतिहासिक वर्णन-शैली विषय के अनुकूल और प्रायः सर्वत्र सीधी-सादी है। भाषा भी सरल और सुबोध है।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के जन्मदाता पण्डित रामदास गौड़ रसायन शास्त्र के एम० ए० थे। आरम्भ में आप काशी के हिन्दू-विश्व-

पण्डित रामदास गौड़

विद्यालय में रसायन के अध्यापक थे; पर गान्धी जी के राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित होकर इन्होंने नौकरी छोड़ दी। आगे चलकर यद्यपि उन्हें बड़े आर्थिक संकट में जीवन बिताना पड़ा, तथापि अपने दृढ राजनीतिक विचार उन्होंने नहीं बदले और अन्त तक सादा जीवन ही व्यतीत करते रहे। इन्होंने संस्कृत, फारसी, उर्दू, बँगला, अँगरेजी आदि कई भाषाओं का अध्ययन किया था। ज्योतिष, धर्मशास्त्र और विज्ञान इनके प्रिय विषय थे। हिन्दी में अन्तिम की उन्नति के लिए उन्होंने जिस लगन, उत्साह और साहस का परिचय दिया, उसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। प्रयाग में विज्ञान परिषद् की स्थापना और 'विज्ञान' नामक मासिक का प्रकाशन इन्होंने इसी उद्देश्य से किया था। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर लिखे उनके लेखों की संख्या सौ के लगभग है। 'भारी भ्रम', 'विज्ञान-प्रवेशिका', 'स्वास्थ्य-साधन', 'रामचरित मानस', 'विज्ञान हस्तामलक', उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनकी वर्णन शैली सीधी-सादी और सुबोध, तथा भाषा सरल प्रयासरहित और स्वाभाविक है।

इस युग के अन्य लेखक और उनका सम्मिलित कार्य

इन लेखकों के अतिरिक्त सर्वश्री गोपालराम गहमरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गणेशशंकर विद्यार्थी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, बद्रीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, कृष्णकान्त मालवीय, चतुरसेन शास्त्री, जी०पी० श्रीवास्तव, बालकृष्ण शर्मा, गुलाबराय, सुदर्शन, वृन्दावन लाल, श्रीराम शर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा अनेक अन्यान्य व्यक्ति भी गद्य के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर चुके अथवा कर रहे हैं। साथ ही अनेक नवोदित लेखकों की भी प्रतिभा-प्रभा से आज का गद्य-साहित्य-संसार आलोकित हो रहा है। इन विद्वानों ने भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य से

सम्बन्ध रखने वाली त्रुटियों को दूर करके भाषा-प्रचार और साहित्य-सेवा की है ; भाषा को व्याकरण के दोषों से मुक्त और शैली का रूप स्थिर करके इन्होंने शिक्षित समाज का ध्यान हिन्दी में साहित्य-रचना करने की ओर आकर्षित किया। इन लेखकों के कार्य का महत्व केवल इतने से समझा जा सकता है कि इस युग के आरम्भ में हिन्दी-भाषा भाषी अपने को हिन्दी जानने वाला कहते-लिखते शरमाते थे ; आज यह संकोच दूर हो गया है। अब दैनिक आवश्यकताओं की प्रायः सभी बातों में हिन्दी का प्रयोग होने लगा है; हिंदी और उसके साहित्य पर हम गर्व करने लगे हैं। भारत के कोने कोने में उसका प्रचार हो गया है और आज समग्र देश को वह राष्ट्रभाषा समझी जाने लगी है। भाषा-प्रचार की दृष्टि से ता हिंदी इस पद के सर्वथा उपयुक्त है ही, गम्भीर और ठोस साहित्य की दृष्टि से भी उसे इस पद के योग्य बनाने की चेष्टा की जा रही है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों से हिंदी साहित्य क्षेत्र में अनुवादों की प्रधानता रही। पश्चात्, मौलिक साहित्य-सृजन का प्रयत्न किया जाने लगा। अनेकानेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं; अनेक साहित्यिक युद्ध हुए। अन्त में अनवरत परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप रचनाओं मे मौलिकता का समावेश करने के लिए पर्याप्त अध्ययन और मनन की आवश्यकता समझी गई। विविध विषयों को अब साहित्य के अन्तर्गत माना जाने लगा और सभी के छोटे बड़े ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, गद्य-काव्य, समालोचना इत्यादि गद्य-साहित्य के प्रमुख अंगों की दिन-प्रति दिन उन्नति होने लगी। इनके विकासक्रम की संक्षिप्त आलोचना से हिंदी गद्य-साहित्य की वर्तमान स्थिति और आवश्यकताओं का ठीक ठीक परिचय मिल सकेगा।

गद्य-साहित्यांगों का विकास

(क) उपन्यास

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के समय से हिंदी में आधुनिक ढंग के

उपन्यास लिखने का सूत्रपात हुआ। तत्कालीन लेखकों ने एक ओर तो उपन्यासों से समृद्ध बँगला साहित्य से परिचय प्राप्त किया और दूसरी ओर अँगरेजी से। इन भाषाओं के उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से तो उत्तम थे ही, कला के नाते भी श्रेष्ठ समझे जाते थे। इससे परिचय प्राप्त करके हिंदी लेखकों का एक दल तो इन भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद करने में लग गया और दूसरा उन्हीं का अनुकरण करके मौलिक रचनाएँ तैयार करने में। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, इत्यादि लेखकों ने बँगला, अँगरेजी और उर्दू के अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। अँगरेजी और बँगला लेखकों का अनुकरण करके मौलिक उपन्यास लिखनेवालों में 'परीक्षागुरु' के लेखक श्री निवासदास, 'निस्सहाय हिन्दू' के लेखक राधाकृष्णदास और 'नूतन ब्रह्मचारी', तथा 'सौ अजान एक सुजान' के लेखक बालकृष्ण भट्ट प्रसिद्ध हैं।

हिंदी-उपन्यासों का प्रथम विकास (सन् १८५० से १९००)

इन लेखकों की अनुवादित और मौलिक रचनाओं से इतना लाभ अवश्य हुआ कि आगे के हिन्दी लेखकों को समकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य समस्याओं पर विचार करने का एक मनोरंजक ढंग ज्ञात हो गया। बँगला और अँगरेजी उपन्यास-साहित्य के अध्ययन से स्वतंत्र और मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी मिली।

हिन्दी उपन्यासों के विकास का द्वितीय युग बाबू गोपालराम गहमरी के अनुवादों से आरंभ होता है। इनके अतिरिक्त उदितनारायण, ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पांडेय ने बँगला के अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। यहाँ तक कि बंकिमचंद, रमेशचद्रदत्त, चंडीशरण सेन, शरत बाबू, कवीन्द्र रवीन्द्र इत्यादि बँगला के सभी प्रमुख उपन्यास लेखकों की सुन्दर रचनाएँ

द्वितीय विकास-काल १९०० से १९२० तक

हिन्दी में ही प्राप्त हो गईं। अन्य अनुवादकों में गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' और रामचंद्र वर्मा ने मराठी 'छत्रसाल' का अनुवाद किया। गुजराती की कई रचनाएँ भी हिन्दी में अनूदित की गईं और अँगरेजी के अनुवादित उपन्यासों में 'लैला', 'लंदन रहस्य', और 'टामकाका की कुटिया' का नाम उल्लेखनीय है।

इस युग के मौलिक उपन्यास-लेखकों में देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता और ब्रजनंदनसहाय का नाम प्रसिद्ध है। खत्रीजी ने 'नरेन्द्रमोहिनी' 'कुसुम-कुमारी', 'वीरेन्द्रवीर', 'चंद्रकान्ता' और 'चंद्रकान्ता-संतति' आदि तिलस्मी और ऐयारी घटना प्रधान उपन्यास लिख, साधारण मनोवृत्ति के बहुत से पाठक पैदा कर काफी नाम और पैसा कमाया। गोस्वामी जी का कार्य साहित्यिक दृष्टि से खत्रीजी से श्रेष्ठ है। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'लवंगलता', 'हृदय-हारिणी', 'लखनऊ की कब्र', इत्यादि इनके लगभग ६५ उपन्यासों में सजीव सामाजिक चित्र तो मिलते ही हैं, वर्णन भी चमत्कारपूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता लिये हुए है। इनके कुछ उपन्यास ऐतिहासिक भी हैं। उपाध्यायजी ने भाषा के नमूने दिखाने के लिए 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' और 'वेनिस का बाँका' नाम के उपन्यास लिखे। मेहता की रचनाएँ 'धूर्तरसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ' आदर्श दंपत्ति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श-हिन्दू' आदि हैं और सहायजी की 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकान्त'।

हिन्दी उपन्यासों के तृतीय विकासकाल की विशेषता यह है कि अनुवाद रूप में दूसरी भाषाओं का कूड़ा करकट हिन्दी में जमा करने की प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो गया।

तृतीय विकासकाल
१९२० से अब तक

प्रथम और द्वितीय काल में तो अनुवादक जो उपन्यास पढ़ते या पा जाते थे उसी का उल्था हिन्दी वालों के सामने रखना वे अपना कर्तव्य समझते रहे; परन्तु इस काल में अँगरेजी, फ्रेंच,

जर्मन, रूसी, जापानी आदि विदेशी तथा बँगला, मराठी, गुजराती प्रान्तीय भाषाओं के प्रायः श्रेष्ठ उपन्यासों के ही अनुवाद हुए। सीधे अनुवादों के अतिरिक्त इन भाषाओं के उपन्यासों के आधार पर कुछ पुस्तकें स्वतंत्र रूप से भी लिखी गईं।

इस युग में मौलिक उपन्यासों की संख्या अनुवादकों से अधिक है। वस्तुतः भाषा को अनुवादों पर नहीं, अपनी मौलिक रचनाओं पर ही गर्व होता है। प्रेमचन्द इस युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' इत्यादि उनके उपन्यास हिन्दी-साहित्य की अमूल्य और स्थायी निधि है। बाबू जयशंकरप्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली', विश्वंभरनाथ शर्मा "कौशिक" के 'मा' और 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा', 'विकास' और 'विजय', वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', चतुरसेन शास्त्री के 'परख' और 'हृदय की प्यास', जैनेन्द्रकुमार के 'तपोभूमि' और 'सुनीता', राजा राधिकारमणसिंह के 'रामरहीम', 'सूरदास' और 'टूटा तारा', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों मे', बुधुआ की बेटी' इत्यादि उपन्यास इस युग की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखकों ने भी दो-दो एक-एक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हमें उनके उज्ज्वल भविष्य का पता लगता है।

इस युग के ये मौलिक उपन्यास प्रायः उन सभी विशेषताओं से युक्त है जिनके लिए विदेशी रचनाएँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं इन उपन्यासों ने हिन्दी पाठकों की रुचि का परिष्कार किया है। कौतूहलवर्धक कोरी घटना-विचित्रता से युक्त ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के स्थान पर हिंदी पाठकों का एक वर्ग सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक समस्याओं पर लक्ष्य रखने वाले इन उपन्यासों का प्रेमी हो गया है। चारित्र्य-विवेचना, कथोपकथन की स्वाभविकता और प्रभावोत्पादकता, अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति और

अंतर्भावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आदि विशेषताओं से युक्त होने के कारण हिंदी के उक्त उपन्यासों में से अनेक विश्व-उपन्यास-साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकते हैं।

(ख) कहानी

अँगरेजी का प्रचार पहले-पहल उत्तरी भारत के बंगाल प्रांत में हुआ था। अतः उसी प्रांत के निवासियों को अँगरेजी साहित्य के संपर्क में आने का सबसे पहले अवसर मिला। उन्होंने इससे पूरा लाभ उठाया और बहुत शीघ्र वे उसी का अनुकरण करके अपने साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हुए। वर्तमान पाश्चात्य ढंग से कहानी लिखना भी बँगला में ही आरंभ हुआ। वहाँ छोटी-छोटी कहानियों को 'गल्प' का नाम दिया गया। आरंभ में तो बँगला लेखक केवल कल्पित विषयों पर ही कहानियाँ लिखा करते थे, पर आगे चलकर विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सामयिक विषयों एवं समस्याओं पर कहानियाँ लिखी जाने लगीं। हृदय के मनोभावों को लेकर भाव और द्वंद्व-प्रधान कहानियाँ लिखना भी इन लोगों ने आरम्भ कर दिया।

बँगला में कहानी का आरंभ

बँगला साहित्य में कहानी की इस उन्नति का प्रभाव हिंदी के लेखकों पर भी पड़ा। यों तो 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी में सबसे पहली समझी जाती है, पर उसका महत्व कहानीकला की दृष्टि से न हो कर भाषा के विचार से ही अधिक है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन अनेक हिंदी-साहित्य-सेवियों ने भी कहानी लिखने की ओर ध्यान अवश्य दिया; पर उनके विषय में भी उक्त कथन ही अधिकांश में सत्य है। हाँ, जब सरस्वती का संपादन-कार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्हाला, तब 'इंडियन प्रेस' के प्रबंधकर्ता बाबू गिरिजा कुमार घोष ने लालापार्वतीनन्दन के नाम से

हिंदी में कहानी का प्रथम विकास (१६०० से १५ तक)

हिंदी में कुछ कहानियाँ लिखीं। घोष बाबू बंगाली थे। अतः उनके विचारों पर बँगला कहानी-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। फिर भी उन्होंने पथ-प्रदर्शन का कार्य अवश्य कर दिया और बहुत शीघ्र ही 'सरस्वती' में ही नहीं हिंदी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छोटी छोटी सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं।

हिंदी के मौलिक कहानी लेखकों में श्री प्रेमचंद जी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इस समय इनकी कहानियों की संख्या दो सौ से ऊपर है। क्या कला दृष्टि से और क्या उपयोगिता की, इनकी कहानियाँ बड़ी उच्चकोटि की हैं। कह सकते हैं कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे-छोटे काव्यग्रंथों का हिंदी पाठकों में जितना प्रचार है, उतना ही प्रेमचंद जी की कहानियों का।

द्वितीय विकास (१६१५ से ३५) (प्रेमचन्द)

कुछ आलोचकों का तो अनुमान है कि इनकी कहानियों में इनके उपन्यासों से अधिक मार्मिकता है। प्रभाव की दृष्टि से भी उनका महत्व कम नहीं है। हमारे वर्तमान कहानी लेखकों की दृष्टि विषय चुनने के लिए प्रायः मध्यश्रेणी पर ही रही है। प्रेमचंद जी की रचनाओं का प्रधान विषय ग्राम्य समस्या है और मध्यम श्रेणी के जीवन की तुलनात्मक झाँकी भी हमे उनकी रचनाओं में मिलती है। सारांश यह है कि यों तो विषय की दृष्टि से जीवन की सभी स्थितियों के दर्शन इनके कथानको मे होते हैं; सभी श्रेणी के पात्रों का चरित्र-चित्रण इन्होंने सफलतापूर्वक किया है और अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की मनोरंजक विवेचना की है, तथापि मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले मनोभावों का जो सरल, भावपूर्ण और द्वंद्वयुक्त दिग्दर्शन इन्होंने कराया है वह हमारे कहानी लेखकों के लिए अभी अनुकरण की चीज है। प्रेमचन्द जी ही हिंदी के ऐसे प्रथम कहानी-उपन्यास लेखक हैं जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी, गुजराती

जापानी, बंगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया था। कह सकते हैं कि प्रेमचन्द जी ने इस ऋण को अदा करने की ओर कदम बढ़ाया था।

प्रेमचन्द जी के बाद हिंदी के श्रेष्ठ कहानी के लेखकों में पहला नाम बाबू जयशंकरप्रसाद का है। इनकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण

'प्रसाद जी की कहानियाँ

हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी इनसे परिचित हैं। हिंदी की सबसे पहली मौलिक कहानी इन्हीं की बताई जाती है जो सन् १९११ में 'इन्दु, में प्रकाशित हुई थी। इन्होंने ५० से ऊपर कहानियाँ लिखीं जो 'छाया' 'प्रतिध्वनि, नवपल्लव,, 'आँधी,, 'आकाश दीप, आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। इनकी कहानियों की प्रधान विशेषता है उच्चकोटि का भाव-पूर्ण घात-प्रतिघात और द्वंद्व। अपनी कहानियों का विषय आरम्भ में तो ये सीधा-सीधा रखते हैं; परन्तु विकास के साथ-साथ वह ऊपर उठता और अन्त में गम्भीर दार्शनिकता की कोटि में पहुँच जाता है जिसकी ओर साधारण पाठक की दृष्टि जाती तो है, परन्तु वह मंत्र-मुग्ध-सा उस ओर देखता रह जाता है, स्वयं वहाँ तक पहुँचने की कल्पना भी नहीं करता।

हिन्दी के वर्तमान प्रतिष्ठित कहानीकारों में सर्व श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक,, रायकृष्णदास, 'सुदर्शन,,

आधुनिक काल (१९३५)

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायान, सत्यजीवन वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला,, श्रीनाथसिंह वाचस्पति पाठक, यशपाल, रामशरण 'पहाड़ी' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लेखकों के सम्मिलित उद्योग का फल यह हुआ कि कला की दृष्टि से हिंदी नाटकों और उपन्यासों से कहानी साहित्य-भण्डार अधिक पुष्ट और भरापूरा है। इसका प्रधान कारण

यह है आरम्भ से ही इस क्षेत्र में अनुवाद और मौलिक सृष्टि साथ-साथ ही होती रहती है। इस क्षेत्र में काम करने वाले उक्त लेखको को अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता मिली है और इनकी कुछ कहानियाँ विश्व साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं मे समभी जाती हैं।

(ग) नाटक

हिंदी के प्रारंभिक नाटकों में कला की दृष्टि से 'आनन्द रघुनंदन' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नाम उल्लेखनीय है। शेष नाटक बहुत साधारण हैं और नाटकीय तत्वो का उनमें अभाव है। वास्तव मे नाटक के तत्वों का अध्ययन करके अपनी रचनाओ में उनका समावेश करने का आरम्भ भारतेंदु के समय से हुआ। इनका रचनाकाल सन् १८६८ से आरंभ होता है। नाटक-रचना की प्रेरणा इन्हें नाटकों का अभिनय देखने पर मिली। अपने १७-१८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में इन्होंने लगभग इतने ही नाटक लिखे। इनका सबसे पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' इसी नाम की एक बंगाली रचना का अनुवाद है। संस्कृत अनुवादों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', करपूरमञ्जरी' और 'रत्नावली' सुन्दर हैं। प्रथम तो कई दृष्टियों से मौलिक जान पड़ता है। अँगरेजी नाटकों मे इनका शेक्सपियर के 'मरचेंट आव वेनिस' का अनुवाद अच्छा हुआ है। इनकी मौलिक नाटक-कृतियों में 'चन्द्रावली' और 'नीलदेवी' श्रेष्ठ हैं। उद्देश्य-विशेष से लिखे हुए ओजपूर्ण नाटकों में 'भारत दुर्दशा' बहुत प्रभावशाली है। भाषा के अतिरिक्त इनके नाटकों की विशेषता थोड़े परिवर्तन के पश्चात् इनका अभिनय-योग्य हो सकता है। इनकी शैली में प्राचीन भारतीय नाटक-तत्वों और नवीन पाश्चात्य नियमो का सामंजस्य-सा मिलता है। संस्कृत के तत्वों का अध्ययन तो इन्होंने थोड़ा-बहुत मूल ग्रंथों के आधार पर किया था; किन्तु पाश्चात्य का बंगला के द्वारा। फल यह हुआ कि पाश्चात्य और भारतीय परंपरा जिस अनुचित अनुपात

नाटक का प्रथम विकास-भारतेंदु के नाटक

के सम्मिलित रूप में बंगाल में प्रचलित थी वही भारतेन्दु भी अपना सके। इस दृष्टि से यह सत्य है कि भारतेन्दु के नाटकों पर बंगीय नाट्य साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा।

भारतेंदु के नाटक प्रायः पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनमें उन्होंने समाज और देश की तत्कालीन गिरी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है। इनका कथा-संगठन सफल कहा जायगा। इस सफलता की कसौटी यह है कि कथानक के विकास के लिये एकत्र की हुई मुख्य और प्रासंगिक घटनाओं का उतना ही विवेचन किया जाय जितना विषय को स्पष्ट करने और स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हो। भारतेन्दु के नाटकों में यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्य-विशेष से कथोपकथन कुछ लम्बे-लम्बे भाषणों के रूप में हो गए हैं तथापि उनमें शिथिलता नहीं है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने लकीर के फकीर न बनकर सर्वत्र उचित स्वतन्त्रता से काम लिया। अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतेन्दु जी ने मानसिक द्वन्द्व की व्याख्या की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना सामान्य आदर्श-दिग्दर्शन करने की ओर। हरिश्चन्द्र सत्य का आदर्श व्रती है, शैव्या आदर्श पतिव्रता है, 'नीलदेवी' का नायक सूर्यदेव सच्चा वीर राजपूत है, रानी नीलदेवी भी वीरता की दृष्टि से आदर्श है और 'चन्द्रावली नाटिका' की चन्द्रावली का प्रेम भी आदर्श और सत्य ही है।

भारतेन्दु की नाट्य-कला

सारांश यह कि नाटकों के प्रथम विकास-काल में भारतेन्दु अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफल रहे। उनके समकालीन कुछ साहित्य सेवियों ने जिनमें प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, तोताराम, काशीनाथ खत्री आदि मुख्य हैं, भारतेन्दु का अनुकरण करके अनेक मौलिक और अनुवादित नाटकों की रचना की। कथानक के संगठन, विषय

भारतेन्दु के सहयोगी

की नवीनता और चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में इन लेखकों का आदर्श भी उन्हीं से मिलता-जुलता था। इस युग के उक्त साहित्य-सेवियों के सम्मिलित उद्योग से हिंदी नाटक-साहित्य में केवल इतना कार्य हुआ कि हिंदी लेखक इस ओर आकृष्ट हो गये। भारतेंदु ने संस्कृत और बँगला के तथा उनके समकालीनों ने इनके अतिरिक्त अँगरेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद किया था। हिंदी नाटक साहित्य के विकास के दूसरे युग में यही काम अनिश्चित गति से चलता रहा।

नाटक का द्वितीय विकास काल—संस्कृत से अनुवाद

संस्कृत नाटकों के अनुवाद का सबसे पहला प्रयत्न राजा लक्ष्मण-सिंह ने किया था। उनके पश्चात् उल्लेखनीय कार्य करने वाले राय बहादुर लाला सीताराम थे। सन् १८८७ से उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों में हाथ लगाया और लगभग १५ वर्ष में 'नागानंद', 'मृच्छकटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तर-रामचरित', 'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र' आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इनका गद्य भाग जितना सरल और स्पष्ट है उतना पद्य भाग नहीं। इनके साथ-साथ पं० ज्वालाप्रसाद (मुरादाबाद) ने 'वेणी संहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल', बा० बाल-मुकंद गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका'; पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कई दृष्टियों से इनमें अनेक अनूदित ग्रंथ सफल कहे जा सकते हैं।

बँगला नाटकों का अनुवाद

बँगला के नाटकों का अनुवाद करने वालों में बनारस के बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू गोपालराम गहमरी का नाम पहले आता है वर्मा जी ने 'वीररानी', 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' नामक नाटकों का अनुवाद किया और गहमरीजी ने 'बनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'चित्रांगदा', 'देशदशा' और 'विद्या-विनोद' का। इनके पश्चात् बँगला से नाटकों का अनुवाद करने में सबसे अधिक सफलता पण्डित रूपनारायण पांडेय को मिली। इन्होंने द्विजेन्द्रलाल

के चार नाटकों—'उसपार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई'—ठाकुर रवीन्द्रनाथ के 'अमलायतन', गिरीश घोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोद प्रसाद के 'खाँनजहाँ', नामक नाटकों के अनुवाद किये। शेष अनुवादकों मे महत्त्वपूर्ण कार्य बम्बई के नाथूराम 'प्रेमी' का समझा जाता है।

अँगरेजी नाटकों का अनुवाद

अँगरेजी शिक्षा का प्रचार जब भली भांति किया जाने लगा तब उसके साहित्य से अपने देशवासियों को परिचित कराना हिंदी भाषा-भाषियों ने आवश्यक समझा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस दिशा मे कार्य आरम्भ हो गया। सन् १८९६ के लगभग जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' ('प्रेमलीला'), 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेंट आव वेनिस' ('वेनिस का बैपारी') नामक शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद किया। इनके पश्चात् पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' और 'जयत' नाम से किया। पिछले में मूल अँगरेजी से मराठी मे अनुवादित नाटक से भी सहायता ली गई थी।

द्वितीय विकासकाल के मौलिक नाटक

द्वितीय विकासकाल में प्रधानता तो अनूदित नाटकों की रही, पर दो-चार मौलिक नाटक भी लिखे गये। भारतेंदु युग के अन्तिम वर्षों मे पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' नामक सामाजिक प्रहसन और 'मयंक मंजरी' नाम का एक नाटक लिखा। इनके पश्चात् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो नाटक लिखे। पं० बलदेवप्रसाद ने 'प्रयास मिलन', 'मीराबाई', 'लल्ला बाबू' नामक तीन नाटक लिखे जिनमें अन्तिम एक प्रहसन है। इनके सहोदर पं० ज्वालाप्रसाद ने 'सीतावनवास' नाम का नाटक लिखा। इस युग के मध्यकाल में बाबू शिवनंदन सहाय ने 'सुदामा' और कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकला-भानुकुमार' नामक नाटक लिखे। अन्य नाटककारों में

सर्वश्री विश्वभरनाथ 'व्याकुल', राधेश्याम, नारायण प्रसाद 'वेताब' का नाम प्रसिद्ध है।

आधुनिक युग के प्रमुख नाटककार

इधर १५-२० वर्षों से नाटक साहित्य ने बड़ी उन्नति की है। विविध भाषाओं के नाटकों के अनुवाद इन वर्षों में किये अवश्य गये हैं परन्तु मौलिक रचनाओं की ओर लेखकों का ध्यान अधिक है। मौलिक नाटककारों में स्व० बाबू जयशंकर प्रसाद, श्री हरीकृष्ण 'प्रेमी', पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० उदयशंकर भट्ट, प० गोविंद वल्लभ पंत और सेठ गोविंददास मुख्य है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में 'स्कंदगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'चंद्रगुप्त', 'प्रेमी' जी के 'रक्षाबंधन', 'शिवा-साधना', मिश्र जी के 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मन्दिर', 'आधीरात', भट्ट जी के 'दाहर या सिंधपतन', 'विक्रमादित्य', 'कमला', 'अम्बा', विश्वामित्र', 'समर-विजय', पंत जी के 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी'; और सेठ जी के 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश' और 'सेवापथ' नाटक प्रसिद्ध है। 'प्रसाद' जी और 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों का विषय मुख्यतः इतिहास से चुना है—प्रथम ने हिन्दू काल और द्वितीय ने मुसलिम काल से। इसमें इन दोनों को सफलता भी मिली है। मिश्र जी ने योरुप के साहित्य-संपन्न देशों के 'यथातथ्यवाद'—जो समस्या जैसी है उसको ज्यों के त्यों वास्तविक रूप—को लेकर 'समस्या'-प्रधान नाटक लिखे हैं। भट्ट जी के नाटकों के विषय पौराणिक कहानियाँ है। नाट्य-कला की दृष्टि से उन्होंने इनका सुन्दर उपयोग किया है। पंतजी के नाटक विविध विषयों—प्रथम मार्कंडेय पुराण की कथा, द्वितीय मेवाड़ की ऐतिहासिक कथा और तृतीय मद्यपान की सामाजिक समस्या—को ले कर लिखे गये हैं। सेठजी के नाटकों में भी प्रथम विवेचना-प्रधान पौराणिक, द्वितीय ऐतिहासिक और तृतीय तथा चतुर्थ सामाजिक है।

इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुम्बन', 'चार बेचारे' (सम्पादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) और 'महात्मा ईसा'; श्री

आधुनिक युग के अन्य नाटककार

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' ने 'प्रताप प्रतिज्ञा'; स्व० राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप'; श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग'; श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्सना'; श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने "कृष्णार्जुन युद्ध'; पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती', 'चंद्रगुप्त'; श्री सियारामशरण ने 'पुण्यपर्व'; श्री कैलाशनाथ भटनागर ने 'भीम प्रतिज्ञा' आदि दो-दो एक-एक नाटक लिख इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। इन नाटकों में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं; परन्तु सभी दृष्टियों से सुन्दर कोई नहीं है। कदाचित इसी से इनमें से अनेक लेखकों ने इस तरफ से हाथ खींच लिया है।

आधुनिक युग में अनुवाद-कार्य

इन १५–२० वर्षों में बंगला और अँगरेजी से सुन्दर और सफल अनुवाद कम हुए हैं। जो हैं भी वे या तो पूर्वानुवाद की सहायता से प्रस्तुत किए गए हैं या बहुत साधारण हैं। हाँ, जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के सुन्दर नाटक 'फाउस्ट' का अनुवाद बरेली कालेज के प्रोफेसर पं० भोलानाथ शर्मा ने बड़े परिश्रम से किया है। विद्वान् अनुवादक ने इसके लिए जर्मन भाषा सीखी है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद का काम अभी चल रहा है। इधर बाबू सत्य जीवन वर्मा 'भारतीय' ने भास के 'स्वप्न वासवदत्ता', श्री ब्रजजीवनदास ने 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्री बलदेव शास्त्री ने 'प्रतिमा' तथा श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने दिङ्नाग के 'कुन्दमाला' का अनुवाद किया है।

आधुनिक युग में गीत नाट्य

नाट्य साहित्य के विकास के प्रस्तावना काल में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर जिस प्रकार पद्यबद्ध नाटक लिखे गये थे उसी प्रकार इधर भी कुछ गीत नाट्यों की रचना हुई है। इन्हें हम भाव-नाट्य भी कह सकते हैं। इनमें 'प्रसाद' जी का 'करुणालय', पं० उदयशंकर भट्टजी का 'मत्स्य-गंधा' और बाबू मैथिलीशरणजी का 'अनघ' आदि

प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो तो अत्यंत भावपूर्ण काव्य के रूप में हमारे सामने आते हैं और अन्तिम कथोपकथनप्रधान पद्य-बद्ध सामाजिक नाटक के रूप में।

आधुनिक युग के एकांकी नाटक

इधर छोटे छोटे एकांकी नाटकों की रचना भी होने लगी है। हिंदी पाठक इन्हे पसंद भी कर रहे हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि एकांकी नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से मिली है। वस्तुत: ये संस्कृत के उपनाटक का ही आधुनिक रूप है। इसके लेखकों मे 'प्रसाद' जी, डा० रामकुमार वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा, पं० उदयशंकर भट्ट और पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का नाम प्रसिद्ध है। इन लेखकों के एकांकियो के कुछ संग्रह इधर प्रकाशित हुए है। इन के आधार पर 'आधुनिक एकांकी नाटक' नाम का सकलन प्रकाशित किया गया है। सुन्दर होते हुए भी यह पूर्ण नहीं है। परन्तु उक्त लेखकों से अभी इस दिशा में बहुत आशा है।

(घ) निबंध

प्रथम विकाश— सन् १६०० तक

भारतेंदु के समकालीन साहित्य सेवियों ने कदाचित निबंध रचना की ओर सब से अधिक ध्यान दिया था। इस युग के निबंधो के विषय प्राय: तीन प्रकार के हैं—(१) सामाजिक (२) विविध और (३) साहित्यिक। प्रथम वर्ग के अंतर्गत सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक उन सभी प्रकार के विषय आ जाते हैं जिनका संबंध तत्कालीन स्थिति से था। ऐसे निबंध प्राय: सुधारात्मक होते और उद्देश्य विशेष से लिखे जाते हैं। हास्य और व्यंग्य युक्त मधुर और मार्मिक उक्तियों के कारण इस प्रकार के लेख विशेष रोचक होते हैं। विचारों की सत्यता, उद्देश्य की पुनीतता और स्वभाव की निर्भीकता ने इस प्रकार के निवन्धों को विशेष शक्तिशाली और सजीव बना दिया है।

दूसरे प्रकार के निबंध ऋतु छटा, पर्व त्योहार, जीवन चरित ऐति-

हासिक घटनाएँ और नैतिक आचरण संबंधी हैं। इनकी संख्या पहले प्रकार के निबन्धों की लगभग आधी समझनी चाहिए। ये प्रायः वर्णनात्मक शैली से लिखे गए हैं। उपदेश की प्रधानता के कारण आज इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इन निबन्धों में कहीं भावात्मक और विचारात्मक स्थल भी हैं जहाँ अलंकृत भाषा शैली का प्रयोग किया गया है।

तीसरे प्रकार के साहित्यिक लेख इस युग में लिखे तो अधिक नहीं गए परन्तु जितने उपलब्ध हैं कला की दृष्टि से उनका स्थान ऊँचा है। इनके दो एक संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इतने से ही यह कहा जा सकता है कि इस युग के अधिकांश साहित्य सेवियों को इस क्षेत्र में अभिनंदनीय सफलता मिली थी। कभी भावपूर्ण और कभी विचारात्मक गठी हुई शैली तथा सजी हुई अलंकृत और कभी अकृत्रिम स्वाभाविकता युक्त भाषा में लिखे गए इस युग के साहित्यिक निबन्धों में व्यक्तित्व की छाप भी स्पष्ट है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ निबंध लेखक हैं, यद्यपि स्वयं भारतेंदुजी और उनके सहयोगियो के लिखे हुए निबंधों की संख्या भी कम नहीं है। तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में इस प्रथम विकास-काल के महत्वपूर्ण लेख आज भी दबे पड़े हैं; पुस्तक रूप में इनके प्रकाशित हो जाने पर हमारा निबंध साहित्य आज का-सा रीता न रह जायगा।

बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष हिंदी प्रचार-प्रसार के लिये जितने महत्त्व के हैं, ठोस साहित्य सृष्टि की दृष्टि से उतने नहीं। इस काल मे

द्वितीय विकास
१९२० तक

केवल सामयिक समस्याओं के संबंध में साहित्यिकों ने लेख-रूप में विचार अवश्य प्रकट किये; होली, विजय दशमी, रामलीला, दीपावली इत्यादि त्योहारों और उत्सवों पर भी पूर्ववत् निबंध लिखे; परन्तु भारतेंदु काल की अपेक्षा इस युग की इन कृतियो में सजीवता और सत्यता कम ही रही। फलस्वरूप ये उतने प्रभावोत्पादक

भी न हो सके। साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लेख तो इन बीस वर्षों में और भी कम लिखे गये, यद्यपि इसके लिए पर्याप्त प्रयत्न किया गया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक लार्ड बेकन के निबंधों को 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से और पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने ख्याति प्राप्त मराठी लेखक चिपलूणकर के निबंधों का निबंध मालादर्श' नाम से अनुवाद भी इस आशा से सामने रखा कि इन्हीं के समान सुन्दर लेख लिखने की ओर हिंदी-लेखक प्रवृत हों परन्तु सफलता न मिली। अन्य साहित्यिकों ने तो इस ओर ध्यान दिया ही नहीं, स्वयं द्विवेदीजी और अग्निहोत्रीजी भी इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके।

हाँ, एक बात इस युग मे भारतेंदु काल से अधिक मूल्य की अवश्य हुई। वह यह कि निबध के लिए विषयो की संख्या इस समय बहुत बढ़ गई। भारतेंदुजी के सहयोगियों ने समाज, धर्म, इतिहास, प्राचीन साहित्य, जीवन-चर्चा, ऋतु-वर्णन, पर्व त्योहार आदि थोड़े ही विषयों पर निबंध लिखे थे, और वे भी साधारण परिचायात्मक ही थे। द्विवेदी कालीन लेखकों ने उक्त विषयों को तो अपनाया ही, साथ साथ दर्शन, तर्क शास्त्र, आलोचना-सिद्धान्त, पुरातत्व, साहसिक कार्य, वैज्ञानिक आविष्कार, मनोविज्ञान चिकित्सा, अर्थशास्त्र, विदेशी साहित्य, भूगोल, खगोल, इत्यादि ऐसे विषयों को भी अपनाया जिनके भारतेंदु युग में नाम-भर सुने गये थे अथवा जिन पर केवल टिप्पणियाँ लिखकर छोड़ दी गई थीं।

इस युग के प्रसिद्ध निबंध लेखकों में सर्व श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, बालमुकुंद गुप्त, गोविंदनारायण मिश्र, श्यामसुंदरदास, रामचद्र शुक्ल, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह विशेष प्रसिद्ध हैं। स्वतंत्र रूप से उक्त सज्जन यदि पर्याप्त संख्या मे निबध लिखते तो इसमें संदेह नहीं कि इस दिशा मे भी हिंदीगद्य ने बहुत उन्नति कर ली होती; फिर भी निस्संदेह इनके सदुद्योग का ही यह फल हुआ कि आगे के

निबंध लेखक जिनमें उक्त सज्जनों में श्यामसुंदरदास और रामचंद्र शुक्ल भी हैं, हिंदी में साहित्य दृष्टि से अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण निबंधों की रचना कर सके।

तृतीय विकास काल में विभिन्न विषयों के निबंध बड़ी संख्या में लिखे गये। विज्ञान आविष्कार, पर्यटन, प्रकृति-संबंधी वर्णनात्मक निबंधों को रोचक बनाने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु गंभीर साहित्यिक लेखों की संख्या उतनी नहीं रही जितनी विकास-क्रम के अनुसार होनी चाहिये थी। गुलाबराय, शांतिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार इत्यादि गिने-चुने लेखकों का कार्य ही इस दिशा में सराहनीय है। इधर आलोचनात्मक लेख लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और यह आशा की जाती है, कि शीघ्र ही हिंदी का निबंध साहित्य भी कहानी, उपन्यास और नाटकों की तरह उन्नत और समृद्ध हो जायगा।

तृतीय विकास—१९२० से अब तक

(ङ) गद्य-काव्य

हिंदी गद्य काव्य का प्राचीन रूप संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'कादंबरी' की-सी अनुप्रास युक्त समासांत पदावली में लिखा मिलता है। भावुकता की उसमें प्रधानता न होकर अनुप्रासमयी रचना शैली की प्रचुरता है और फलतः लेखक की रचना-कुशलता केवल शब्द चयन में ही व्यय होती थी। भारतेंदुकालीन पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'चंद्रोपालंभ' जैसे निबंधों में इस शैली के दर्शन होते हैं। द्विवेदी युग के पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने इस शैली को वह तूल दिया और अनुप्रासयुक्त समासांत पदावली के संचय का ऐसा विकट प्रयत्न किया कि उनके शब्दजाल में पाठकों की बुद्धि एक बार फँस कर कठिनता से आगे बढ़ पाती है। अस्वाभाविक कृत्रिमता के कारण गद्य-काव्य की समझी जाने वाली यह शैली शीघ्र ही साहित्य सेवियों द्वारा अनादृत

प्राचीन अलंकृत रूप, १९१० तक

होगई। पश्चात्, गद्य-काव्य की अंतरात्मा ही बदल गई। भाव-प्रकाशन शैली के वाहरी रूप के संस्कार और परिष्कार की ओर ध्यान न देकर रचना को भावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा।

प्रथम विकास काल—सन् १९१० से १९३० तक

इस प्रकार का भावात्मक गद्य लिखने का विचार हिन्दीवालों को बँगला लेखकों, विशेष कर कवीन्द्र रवीन्द्र से मिला। अँगरेजी साहित्य का प्रभाव जितना बँगला पर पड़ा था, उतना किसी अन्य भाषा पर नहीं। बँगला-भाषियों ने इससे लाभ भी पूरा उठाया। ईसाइयों ने बंगाल में अपने धर्मप्रचार के लिये पादरी भक्तों और ईसाई संतों की भावपूर्ण रचनाओं का बहुत प्रचार किया था। इसका विरोध करने के लिए वहाँ ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई तो उसके संस्थापकों ने ईसाई धर्म की कुछ विशेषताएँ भी अपना लीं। ईश्वराधना का खास दिन ब्रह्म-समाजियों में भी ईसाईयों की तरह रविवार माना गया। ईसी तरह भक्तिभाव व्यंजना-पद्धति भी ईसाईयों का अनुकरण करके ही ब्रह्म-समाजियों ने अपनाई। 'उस परोक्ष आलंबन को प्रियतम मानकर उसके साथ संयोग-वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना, इस पद्धति की विशेषता है।' हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की रहस्योंन्मुख आध्यात्मिकता प्रधान रचनाओं की प्रचुरता है। अतः ईसाइयों से प्रेरणा पाते ही प्राचीन उपनिषद् साहित्य की भावात्मकता अपना कर अनेक बंगाली कवियों ने गद्यगीतों की रचना की। इनके संग्रहों में सबसे प्रसिद्ध कवींद्र रवींद्र की 'गीतांजलि' है। इस पर विश्वविख्यात नोबुल पुरस्कार मिलते ही हिंदी जगत में इसकी धूम मच गई। अनेक सहृदय कवियों और रसिकों ने 'गीतांजलि' का अनुकरण करना आरंभ किया। प्रारंभिक लेखकों में रायकृष्णदास को उसमें विशेष सफलता मिली। 'साधना' 'प्रवाल', 'छायावाद' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद' भी इसी कोटि के उल्लेखनीय संग्रह हैं। चतुरसेन शास्त्री के कुछ गद्य-काव्य भी सुन्दर बन पड़े हैं।

आध्यात्मिक प्रेम की अंतरात्मा तक जिन सहृदय रसिकों की अंतर्दृष्टि न पहुँच सकी, उन्होंने रहस्यमयी लाक्षणिक भावुकता-प्रधान उक्त महत्वपूर्ण रचनाओं को शाब्दिक अर्थ अपने लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना के लिए अपनाया। रीतिकालीन कविता की तरह के कसक, वेदना, टीस, प्रतीक्षा, उत्सुकता, उपालंभ-प्रधान ये गद्यगीत प्रति-दिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। हृदय को छूने की शक्ति यद्यपि इनमें नहीं होती तथापि रसिकों का थोड़ा-बहुत मनोरंजन इससे हो ही जाता है।

लौकिक प्रेम की प्रधानता

गद्य-काव्य के द्वितीय विकासकाल में डाक्टर रघुवीरसिंह और डा० रामकुमार वर्मा के गद्य गीतों ने विशेष ख्याति प्राप्त की है प्रथम की रचनाओं का प्रधान विषय अतीत की वे मार्मिक घटनाएँ अथवा ऐतिहासिक स्थल हैं जिनका स्मरण करके अथवा जिनको सामने पाकर सभी सहृदय व्यक्तियों के मर्मस्थल पर प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः मानव हृदय की सामान्यवृत्ति अतीत की मार्मिक स्मृतियों में सर्वदा रमती रहती है। वह भावुक ही क्या, भावपूर्ण स्थलों को सामने पाकर भी जिसकी अनुभूति जागृत न हो? डा० रघुवीरसिंह ने मुगल कालीन ऐसे ही स्थलों और क्षेत्रों को यथा ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि, चुनकर अनेक भावात्मक गद्य काव्य लिखे हैं। प्रेम, वियोग, त्याग, विवशता इत्यादि मनोभावों की मार्मिक व्यंजना इन्होंने बड़ी तन्मयता के साथ की है। यही इनके गीतों की प्रसिद्धि का प्रधान कारण है।

द्वितीय विकास—
१९३० से अब तक

दूसरे लेखक डा० रामकुमार हैं जिनकी रचनाओं का संग्रह 'हिमहास' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। संतकाव्य, विशेषतः कबीर की रचनाओं का विशेष अध्ययन करने और प्रमुख रहस्यवादी कवि होने के कारण इनके गद्य गीतों में पूर्व प्रचलित रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता तो वर्तमान रही ही, साथ-साथ अतीत की मार्मिक स्मृतियों की वेदना-

भरी अनुभूति भी पाठकों का चित्त आकर्षित करती है। रचना शैली की दृष्टि से प्रथम विकास काल के रायकृष्णदास और वियोगी हरि की कृतियाँ जितनी सरल और प्रसाद गुण युक्त हैं, उतनी ही इन डाक्टरों की परिष्कृत और परिमार्जित, उनकी रचना शैली में यदि भक्ति की सी सरल मुग्धता का प्रभाव है तो इनमें ज्ञान की गरिमा और अध्ययन के प्रयास का।

समीक्षा

गद्य में काव्य की सी भाव-प्रधानता लाने का प्रयत्न करना स्वाभाविक है; परन्तु तत्संबंधी आवेश में शब्दालकारों का प्रयास युक्त चयन गद्य को बोझिल और अस्वाभाविक ही बना सकता है, भावपूर्ण नहीं। दूसरी बात गद्य काव्य की उन्नति के लिए हानिकारक है लेखकों-का सभी गम्भीर और विचारात्मक विषयों पर भावमग्न होकर प्रलापपूर्ण शैली में भावाभिव्यंजक शब्दों का संग्रह करने लग जाना। गद्य काव्य लिखने की प्रवृत्ति इधर बहुत बढ़ रही है। उक्त दोनों बातों से सावधान होकर इस क्षेत्र में प्रवृत्त होने से इनकी उन्नति का कार्य अत्यन्त सुलभ हो जायगा।

(च) समालोचना

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में काव्यो की टीका द्वारा परोक्ष और काव्यांगों की शास्त्रीय विवेचना द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आलोचना-

समालोचना का पूर्व रूप

संबंधी जो कार्य चलता रहा, भारतेन्दु युग में वह बहुत शिथिल हो गया। भारत में विदेशियों के आगमन से पद्य में सीमित-साहित्य रचना की परिपाटी ही प्रचलित न रह गई, तब काव्याँगों की चर्चा का क्रम भी पूर्ववत् कैसे चल सकता था? इस समय के साहित्य सेवियों का ध्यान और प्रयत्न प्रधानतः भाषा-शैली-संबंधी अपनी रुचि के अनुकूल रूप जनता के सामने रखने भर का रहा, यद्यपि भारतेंदु-सरीखे एकाध व्यक्ति ने साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा भी की। हाँ, भाषा-शैली के रूप-विषयक जो विचार लेखकों ने समय-समय पर प्रकट किये वे मुख्यतः आलोचनात्मक-शैली में ही हैं। उधर धार्मिक और सामा-

जिक क्षेत्रों में भी वाद-विवाद हो रहा था। विदेशियों के आगमन से भारतीय रहन सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि पर जो प्रभाव पड़ा, भारतीय उसके पक्ष-विपक्ष दोनों में थे। अतः उसके विरोध अथवा समर्थन में, अपने प्रतिपक्षी की दलीलों का उत्तर देते हुए नित्यप्रति विचार प्रकट किये जा रहे थे। उत्तर-प्रत्युत्तर-प्रधान ऐसे लेख जब पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए तब साहित्यिकों पर भी उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। आधुनिक आलोचना का सूत्रपात यहीं से समझना चाहिए।

भारतेंदु युग में समालोचना

इस प्रकार विषय प्रधानता की दृष्टि से समालोचना के तीन रूप भारतेंदु-युग में मिलते हैं—

(१) पूर्व प्रचलित काव्यालोचना—रस, अलंकार इत्यादि के लक्षण दिखाने के लिए अथवा कला और भाव की दृष्टि से सुन्दर छंदों और पदों के संग्रह इस युग में भी निकाले गए जिनसे हमें संकलन-कर्ताओं की रुचि का पता लगता है।

(२) धर्म-समाज-संबंधी सामयिक आलोचना—अपने विचारों के समर्थन और प्रतिपक्षी के विचारों के विरोध मे जो लेख या भाषण तैयार किए जाते थे उनमे विषय का प्रतिपादन आलोचनात्मक ढग से ही रहता था।

(३) साहित्यिक आलोचना—'आलोचना' शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में होता है उसका प्रारंभिक रूप हमें भारतेंदु युग के एकाध पत्रों और ग्रन्थों की भूमिका में मिलता है। विषय की दृष्टि से इन आलोचनाओं के दो भेद हो सकते हैं। एक, भाषारूप-संबंधी लेखकों ने प्रकट किए। 'इतिहास-तिमिर नाशक' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में राजा शिवप्रसाद ने यह प्रश्न साहित्यिकों के सामने रखा। इन बातों का उत्तर राजा लक्ष्मणसिंह ने 'रघुवंश' की भूमिका में दिया। फिर तो प्रत्येक लेखक के लिए इस संबंध में अपने विचार प्रकट करना अनिवार्य हो गया। इस तरह आलोचना शैली के जन्म का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ।

विषय की दृष्टि से दूसरा भेद ग्रन्थों की आलोचना है। प्रकाशित पुस्तकें अपने साहित्यिक मित्रों को इसलिए भेंट की गईं कि उनके संबंध में प्रामाणिक सम्मति मिल सके। आगेचलकर ये सम्मतियाँ पत्रों में छपने लगीं। इसी तरह अन्य लेखकों की भाषा शैली और विचारों इत्यादि की भी आलोचना की जाने लगी। अंबिकादत्त व्यास की 'दयानन्द-पांडित्य-खंडन' ऐसी ही पुस्तक है। श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट ने बड़ी कटु आलोचना की थी। इन आलोचकों ने प्रशंसात्मक सम्मति न देकर अपनी योग्यता के अनुसार निष्पक्ष होकर अपने विचार प्रकट किए और इस प्रकार अपने अनुपम साहस का परिचय दिया। अतः भारतेन्दु युग में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य इन्हीं का समझना चाहिए। इसके पश्चात् सभी पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की आलोचना निकलना आरम्भ हो गया।

प्रथम विकास—सन् १८७५ से १९०० तक

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में हिन्दी-समालोचना का गद्य-साहित्य के अङ्गों में सबसे अधिक विकास हुआ। वस्तुतः इस युग का आरंभ ही समालोचना से होता है। सन् १९०३ में सरस्वती का संपादन स्वीकार करने के पहिले ही पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी कुछ हिंदी रीडरों की कटु आलोचना करके प्रसिद्ध हो चुके थे। पश्चात् उन्होंने लाला सीताराम के अनुवादित संस्कृत नाटकों में भाषा और भाव अभाव के दोष दिखाए। 'विक्रम क देव-चरित चर्चा' 'नैषध चरित चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता' उनकी रचनाएँ हैं जो आलोचनात्मक ढंग से लिखी गई हैं। परन्तु इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में उन्होंने 'सरस्वती' में प्रतिमास हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करके किया। उन्होंने नवीन प्रकाशित पुस्तकों में भाषा, शैली इत्यादि के दोष निर्भय होकर दिखाए। इस पर उनका बड़ा विरोध किया गया; परन्तु उन्होंने विरोधियों को

द्वितीय विकास १९०० से १९२० तक

सदैव मुँह तोड़ उत्तर दिया। भाषा की शुद्धता और शैली को व्यवस्थित बनाने में इन आलोचनाओं का बड़ा हाथ रहा। सभी प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात इसी समय से समझना चाहिए।

इस क्षेत्र से बाहर रह कर आलोचना करने वालों में मिश्र बंधुओं का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' में हिन्दी के सर्वमान्य नौ कवियों की रचना पर आलोचनात्मक ढंग से विचार किया। देव का आसन उसकी सम्मति में सूर-तुलसी को छोड़ कर सबसे ऊँचा है। उनके इस मत को लेकर आलोचना क्षेत्र में कुछ दिन तक बड़ी चर्चा रही। पं० पद्मसिंह शर्मा की 'सतसई की टीका', पंडित कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी', लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक पुस्तकें परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना के रूप में लिखी गई। इन ग्रंथों से यद्यपि समालोचना के स्वरूप का विकास नहीं हुआ तथापि साहित्यिकों को इस विषय के महत्त्व का अनुभव अवश्य हो गया। दूसरी बात यह कि शर्माजी की तुलनात्मक शैली लोगों को बहुत रुचिकर हुई आगे के प्रायः सभी आलोचकों ने इसे अपना लिया।

हिन्दी समालोचना का तृतीय विकास अत्यन्त संतोषजनक है। इसका आरंभ पंडित रामचन्द्र शुक्ल के महत्त्वपूर्ण कार्य से होता है।

तृतीय विकास
१९२० से अब तक

सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचनात्मक निबंध लिख कर उन्होंने जिस नवीन आलोचना-पद्धति का प्रचलन किया, उनके विद्वान शिष्यों और साहित्य-प्रेमी आलोचकों ने उसे अपना कर केशवदास, पद्माकर, मैथिलीशरण, जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानंदन पंत तथा अन्य कवियों पर आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से अनेक की प्रशंसा स्वयं शुक्लजी ने ही की थी। इस वर्ग के आलोचकों में सर्व श्री नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, नगेंद्र, सत्येंद्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, शांति-

प्रिय द्विवेदी, रामनाथ 'सुमन' और गिरजाशंकर शुक्ल आदि का नाम उल्लेखनीय है।

समालोचनाओं के क्षेत्र में दूसरे ढंग का कार्य डा० श्यामसुन्दरदास ने शुरू किया। पाश्चात्य और पूर्वीय काव्य-मीमांसा को लेकर उन्होंने 'साहित्यालोचन' की रचना की। आगे चल कर इस ढंग की 'आलोचनादर्श', 'समालोचना तत्व', 'कहानी कला' आदि पुस्तकें लिखी गईं।

हिंदी साहित्य की प्रगति आज बड़े वेग से हो रही है। समालोचक का कार्य है कि साहित्य के सभी अंगों की निरन्तर परीक्षा करता रहे।

समालोचना का भविष्य

हिंदी-साहित्य-विकास की गति ने यद्यपि आलोचक के कार्य को विशेष कठिन बना दिया है, परन्तु संतोष की बात है कि हमारा समालोचक वर्ग आज अपने उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक पालन कर रहा है। प्रतिमास आलोचनात्मक लेखों के साथ-साथ नवीन समीक्षात्मक ग्रन्थों से साहित्य के इस अंग की पूर्ति की जा रही है। अँगरेजी जैसी विदेशी और बँगला जैसी देशी भाषाओं में वास्तविक कलाकारों की कृत्तियों से कई गुना अधिक आलोचनात्मक साहित्य वर्तमान है। हिंदी समालोचना का भण्डार अभी इतना समृद्ध नहीं है; परन्तु उसकी वर्तमान प्रगति देखकर यह आशा अवश्य की जाती है कि निकट भविष्य में गद्य-साहित्य का यह अंग भी भरा-पूरा दिखाई देगा।

———

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

(सन् १८५०–८५)

आधुनिक हिंदी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० को सोमवार के दिन हुआ था। इनके पिता बाबू गोपालचन्द्र स्वयं बड़ी अच्छी कविता करते थे। उन्होंने ही अपने पुत्र को प्रसिद्ध होने और कविता करने का शुभाशीर्वाद दिया था। माता-पिता इन्हें क्रमशः पाँच और दस वर्ष की अवस्था में छोड़कर परलोक सिधारे थे। इससे इनका लालन-पालन तो बड़े लाड़-प्यार से हुआ; परन्तु शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो सका। कुछ दिन तक घर ही पर हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी पढ़ने के बाद इन्होंने एक महाजनी स्कूल में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' से शिक्षा प्राप्त की; फिर क्विन्स कालेज में अँगरेजी और संस्कृत पढ़ने लगे। यह क्रम भी दो-तीन वर्ष से अधिक न चला। इसी समय इन्होंने जगन्नाथ यात्रा की। इस प्रकार स्कूल की नियमित शिक्षा का अन्त होगया।

परिचय

छात्रावस्था में ही भारतेन्दुजी को कविता करने का शौक हो गया था। उस समय की इनकी प्रायः सभी रचनाएँ शृंगार रस की हैं। इसके पश्चात् जब जब इन्होंने बंगाल की यात्रा की, तब वहाँ के साहित्य की उन्नति की ओर इन्होंने ध्यान दिया। उनके इस उद्योग से साहित्य के रिक्त अंशों की यथोचित पूर्ति चाहे भले ही न हुई हो; परन्तु इनका यह प्रयत्न सत्य ही स्तुत्य था और इसी से इनका नाम आज बड़े आदर से लिया जाता है।

भारतेन्दु की हिन्दी-सेवा कई मार्गों से झुकी हुई थी। ये केवल कवि ही नहीं, गद्य के भी अच्छे लेखक थे। ये रस-भक्त तथा देशभक्त दोनों ही थे। प्राचीन (भारतीय) गौरव का पूर्ण आदर करते हुए ये नवीन विचारों के प्रति भी पूर्णतया उदार थे। इस प्राचीनता तथा नवीनता

हिन्दी-सेवा

के सुन्दर सामंजस्य के साथ इनकी सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक हिंदी को जन्म देकर, उसे राष्ट्रभाषा बनाने का सफल प्रयास है और इसीसे ये आधुनिक हिंदी के जन्मदाता कहे गए हैं। इन्होंने हिंदी की निम्नलिखित रूपों में सेवा की—

नाटक

इनके प्रादुर्भाव के समय हिंदी में नाटकों का अभाव था। जो नाटक लिखे भी गये थे, वे अनुवादमात्र थे और इनमें नाटक के तत्त्वों का सर्वथा अभाव था। भारतेन्दु जी ने लगभग १५ मौलिक और अनुवादित नाटक लिखकर इस कमी को दूर करने की ओर पहला कदम बढ़ाया। यह काम इन्होंने सन् १८६८ में १८ वर्ष की अवस्था में शुरू किया था। इनका 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक बहुत प्रसिद्ध है और कई बार सफलता से खेला भी जा चुका है। नाट्य-कला की दृष्टि से भी इनके दो-एक नाटक बड़े सुन्दर हैं।

काव्य

इन्होंने प्रायः मुक्तक छंद ही लिखे हैं। नीति काव्य के तो ये अन्तिम प्रसिद्ध कवि थे। छंदों में सवैया, कवित्त, दोहे इन्हें विशेष प्रिय थे। इनकी कविता में एक ओर तो शृङ्गार की प्रधानता है और दूसरी ओर भक्ति की। ये दोनों विषय इन्होंने पूर्व हिंदी कविता से प्रभावित होकर अपनाए थे। यद्यपि भक्ति और शृङ्गार-रस की इनकी कविताएँ भी सुन्दर हैं तथापि इनका महत्त्व इस बात में है कि देश और समाज की परिस्थिति के अनुसार इन्होंने देश-प्रेम सम्बन्धी कविताएँ भी लिखीं। देश की स्थिति प्रायः पूर्ववत् ही होने के कारण इनकी देशभक्ति-प्रधान कविताओं का मूल्य आज और भी बढ़ गया है।

इन्होंने सबसे बड़ा काम यह किया कि तत्कालीन ब्रजभाषा को छोड़, खड़ी बोली का परिष्कार कर, उसे अपनाया और उसमें स्वयं तो लिखा ही, दूसरों को भी लिखने के लिए उत्साहित किया। भाषा के क्षेत्र में उस समय बड़ी धाँधली हो रही थी। कुछ लोग संस्कृत-प्रधान भाषा के पक्षपाती थे और कुछ अरबी-फारसी-

प्रधान के। प्रचार की दृष्टि से ये दोनों ही रूप भाषा की उन्नति में बाधक थे। अतः भारतेन्दु जी ने गद्य के क्षेत्र मे मध्यम मार्ग अपनाकर हिन्दी को प्रचार-प्रसार के योग्य बनाया। प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यिकों ने आगे चलकर उनके इस कार्य का समर्थन किया और भाषा के इसी रूप को अपनाया।

[भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र]
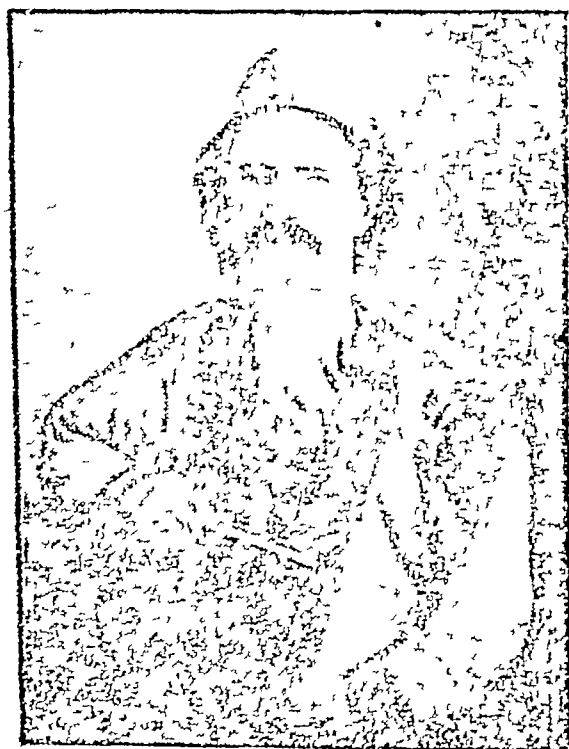
हिंदी-गद्य में भारतेंदु के पहले कोई सुन्दर पुस्तक थी ही नहीं; अतः इन्होंने विविध विविध विषयों में पुस्तकें लिख कर लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया। राज-भक्ति-विषयक लेख इन्होंने लिखे और भारतवासियों के हृदय में देश-प्रेम का भाव जाग्रत किया; धर्म ग्रंथ लिखने को वे प्रयत्नशील थे और साथ-साथ समाज तथा धर्म की कुरीतियों की आलोचना भी निडर होकर किया करते थे। हास-परिहास और व्यंग्यपूर्ण लेख तो इन्होने लिखे ही पर इतिहास-अनुसंधान संबंधी गंभीर विषयो को भी नहीं छोड़ा। उपन्यास और आख्यायिका की रचना के लिए भी इन्होंने प्रयत्न किया। सारांश यह कि गद्य-पद्य-मय काव्य, नाटक, कला, इतिहास परिहास, समालोचना आदि सभी विषयों पर ये बराबर लिखा करते थे।

हिंदी पत्रों का जन्मदाता भी हम वास्तव में बाबू हरिश्चन्द्र

समाचार-पत्र

को ही कह सकते हैं। सन् १८६७ में इन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' नामक मासिक पत्र निकाला था। कुछ समय पश्चात् इसे साप्ताहिक करके सन् १८७३ के अक्टूबर में दूसरा मासिक 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के नाम से (इसका नाम बाद में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया) उन्होंने प्रकाशित किया और दूसरे वर्ष (जनवरी सन् १८७४) से स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बाल बोधिनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इन सभी पत्रों का आदर्श भाषा का प्रचार, समाज और धर्म-सुधार था। भारतेन्दु जी चाहते थे कि सारे देशवासी, देश, समाज और धर्म के प्रति अपने कर्तव्य को समझ लें और उसका शक्ति-भर पालन करें। अपने पत्रों द्वारा उन्होंने भारतवासियों तक यही सन्देश पहुँचाया है।

प्राचीन पुस्तकों का प्रकाशन

प्राचीन कवियों के ग्रंथों के प्रकाशन की ओर भी भारतेन्दु जी ने ध्यान दिया था। प्राचीन कवियों के ग्रंथों की खोज कर, उनका संपादन करके ये अपने पत्रों में क्रमशः छापा करते थे। आगे चल कर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस काम को पूरा किया।

अनुवाद

भारतेन्दु जी ने कई नाटकों का अनुवाद किया था। इसी प्रकार संस्कृत और बंगला साहित्य की उन्नति देखकर अन्य विषयों की पुस्तकों के अनुवाद में भी उन्होंने हाथ लगाया था। इस पथ-प्रदर्शन का परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्यु के पश्चात् हिंदी-लेखकों का एक दल अनुवाद-कार्य में जुट गया और शीघ्र ही हिंदी में अनुवादित ग्रन्थों का बाहुल्य हो गया।

सारांश

संक्षेप में, "जिस प्रकार भारतेंदु जी ने हिंदी गद्य को सुव्यवस्थित चलता मधुर रूप देकर उसमें नाटक, इतिहास, पुरावृत्त, धर्म आख्यान निबंधादि अनेक काव्य-विषयक ग्रंथों की रचना की उसी प्रकार हिंदी पद्य-साहित्य की भाषा को परिमार्जित कर उसमें नवीन युग के अनुकूल कविता-धारा को प्रवाहित कर हिंदी साहित्य को अपना चिर ऋणी कर रक्खा है। इनकी

प्रतिभा अपनी मातृ-भूमि तथा मातृ-भाषा की त्रुटियों के निरीक्षण में जितनी पटु थी उतनी ही उसके उत्थान के प्रयत्न में भी दत्त-चित्त रहती थी। भारत की चिंता में व्यग्र तथा हिंदी के प्रेम में मतवाले भारतेंदु जी ने अपना तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं दो पर निछावर कर दिया। हिंदी साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा और अमर है:—

जब लौं ये जागृत रहैं जग में हरि औ चंद।
तब लौं तुव कीरतिलता फूलहु श्री हरिचंद।

भारतेंदु जी ने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से हिंदी में निम्नलिखित मौलिक और अनुवादित ग्रंथ लिखे थे—

नाटक—विद्यासुन्दर (छायानुवाद) पाखंड विडंबन (अनुवादित), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (मौलिक प्रहसन), धनंजयविजय (अनुवादित), सत्य हरिश्चंद्र (मौलिक), कर्पूर मंजरी अंथ (अनुवाद), विषस्य विषमौषधम् (मौलिक-भाण), चंद्रावली (मौलिक), भारत दुर्दशा (मौलिक रूपक), नीलदेवी (मौलिक), अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा (मौलिक प्रहसन), मुद्राराक्षस (अनुवाद), दुर्लभ बंधु (अनुवाद) भारत जननी (छायानुवाद)। इनके अतिरिक्त प्रवास नाटक, प्रेम योगिनी, राणाप्रताप आदि कृतियाँ भी इन्हीं की हैं, जो अपूर्ण हैं।

काव्य—भारत वीरत्व, रिपन-अष्टक, विजयिनी-विजय, वैजयंती, ये रचनाएँ राजभक्ति विषयक हैं। इनके अतिरिक्त होली, मधुमुकुल, प्रेम-फुलवारी, प्रेम-प्रलाप, प्रातःस्मरणीय मंगलपाठ, प्रेमाश्रु वर्षण, वर्षाविनोद, प्रेम-माधुरी, सतसई-सिंगार, कृष्ण-चरित्र आदि अन्य प्रसिद्ध भक्ति और प्रेम-काव्य हैं।

गद्य—(क)—नाटक, तथा अन्य अनेक लेख साहित्यिक हैं।

(ख)—काश्मीर-कुसुम, बूँदी का राजवंश, रामायण का समय, आदि इतिहास से संबंध रखते हैं।

(ग)—सुलोचना, शीलवती, सावित्री-चरित्र आदि आख्यान हैं।

भारतेन्दु जी ने गद्य में नाटक, जिनमें कविता-भाग भी प्रचुर है, और इतिहास सम्बन्धी लेख अधिक लिखे हैं। इनके कुछ नाटक तो शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये थे और कुछ उद्देश्य-विशेष से। इसी प्रकार कुछ इतिहास-सम्बन्धी लेखों में साधारण वर्णनात्मक परिचय है और कुछ में गम्भीर गवेषणा। 'नाटक' आदि इनके गम्भीर साहित्यिक लेखों में गवेषणात्मक भाग उतना नहीं है जितना गम्भीर साहित्यिक भाग। इनको ऐतिहासिक गवेषणा और साहित्यिक गवेषणा मे एक अन्तर यह भी दिखाई देता है कि प्रथम मे अपेक्षाकृत शुष्कता है।

विषय

विषय के अनुसार भारतेन्दु जी की शैली के निम्नलिखित प्रधान भेद किए जा सकते हैं—

शैली

(१) साधारण वर्णन-प्रधान लेखों की परिचयात्मक शैली।
(२) शुद्ध भावपूर्ण स्थलों की भावात्मक शैली।
(३) गम्भीर ऐतिहासिक और साहित्यिक लेखो की गवेषणात्मक शैली।

परिचयात्मक शैली

लेखक की एक निजी शैली होती है जो विशेष स्थलों और विशेष कारणों से ही परिवर्तित होती है। इस परिवर्तन का कारण कभी तो विषय की गम्भीरता होता है और कभी लेखक या उसके पात्रों का भावावेष। इन दोनो कारणों के अभाव में जो व्यावहारिक शैली प्रकृत या साधारण अवस्थाओं में काम आती है उसी को परिचयात्मक शैली कहते हैं। उच्च कोटि के नाटकों में इस शैली के बड़े-बड़े उदाहरण प्राय: नहीं होते क्योंकि वास्तविक कथोपकथन प्राय: दो-एक वाक्यों तक ही सीमित रहता है। और बड़े उदाहरण प्राय: उद्देश्य-विशेष की व्याख्या करने को भावावेश में ही लिखे जाते हैं। हाँ, भारतेन्दु के

नाटकों में 'स्वगत' अवतरण बहुत से हैं। नाटक के ऐसे ही अनुच्छेदों में इतिहास के साधारण वर्णन मे तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उदाहरण देखिए—

इसका प्रकृत नाम फखरुद्दीन अलगखाँ था। पहले यह बड़ा बुद्धिमान और बड़ा दानी था। हजार दर का महल बनवाया। मुगलों से सुलह किया और दक्षिण में अपना अधिकार फैलाया। पर पीछे से ऐसे काम किये कि लोग उसे पागल समझने लगे। हुक्म दिया कि दिल्ली की प्रजा मात्र दिल्ली को छोड़कर देवगढ़ में रहे, जिसको दक्षिण में दौलताबाद के नाम से बसाया था। इसका फल यह हुआ कि देवगढ़ तो न बसा किन्तु दिल्ली उजड़ गई। अन्त में फिर दिल्ली लौट आया। फारस और खुरासान जीतने के लिये तीन लाख सत्तर हजार सवार इकट्ठे किये, इनमे से एक लाख को चीन लेने के लिये भेजा, ये सबके सब हिमालय में नष्ट हो गये, कोई न बचा।

—बादशाह दर्पण (इतिहास)

यही भारतेन्दु जी की परिचयात्मक शैली है। इसका एक उदाहरण और देख लेने पर इसकी विवेचना सरलता से समझ में आ सकेगी—

'अब नहीं करने से क्या होता है विचार तो करना ही होगा और फिर इसमें दोष क्या है, जैसा तुम्हारा दिव्य राजा के कुल में जन्म है वैसा ही दिव्य संन्यासी मिल जायगा, मैंने तो चाँद का टुकड़ा वर खोज लिया था पर तू कहती है कि रानी से उसका समाचार ही मत कह तो अब कौन उपाय करूँ—अच्छा है जैसी तुम्हारी चोटी है कुछ उससे भी लम्बी उसकी दाढ़ी है सिर पर बड़ी भारी जटा है और सब अंग में भभूत लगाये है ऐसे जोगी नित्य-नित्य नहीं आते—अहाहा कैसा अद्भुत रूप है!

—विद्यासुन्दर (नाटक)

भारतेन्दु जी की इस परिचयात्मक शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है और न फारसी के प्रचलित

शब्दों का बहिष्कार ही। यह उस समय के संस्कृत-प्रधान तथा अरबी फारसी-प्रधान दोनों भेदों के बीच का मार्ग था। इस शैली की सुबोधता से हमें इसका प्रचार होने की भी आशा होती है। यही आशा भारतेन्दु जी को थी और इसी उद्देश्य से इन्होंने भाषा का यह रूप अपनाया भी था। इस शैली में वाक्य छोटे-छोटे हैं और मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है जिससे भाषा में सजीवता आगई है। दूसरे उदाहरण में अन्तिम वाक्य का व्यंग्य कैसा मधुर है! यह उनकी प्रकृति का द्योतक माना जा सकता है।

भावात्मक शैली

भारतेंदुजी को भारतवर्ष और भारतवासियों की दुर्दशा देखकर दुख और स्वयं भारतवासियों को ही अपने भाइयों पर अत्याचार करते देखकर क्षोभ और क्रोध होता था। इसी प्रकार अन्य सुखद अवसरों पर वे प्रेम में मग्न हो जाते थे। हृदय के इन्हीं दुख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि भावों को हम, भारत-जननी, भारत दुर्दशा, चंद्रावली, विद्या सुन्दर आदि नाटकों में देख सकते हैं। दुख क्षोभ, क्रोध, आदि के कारण, भावावेश में प्रायः उनकी भाषा बहुत जोरदार, हृदय स्पर्शी और भावपूर्ण हो जाती थी। उदाहरण—

झूठे, झूठे, झूठे! झूठे ही नहीं, विश्वासघातक! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठा कर लोगों को विश्वास दिया। आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते। बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेईमानी पहले सिरे की। नाम बिके लोग झूठा कहें, अपने आप मारे-मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई पूर्ण निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट-पाट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं, लाज की हाय भी नहीं जाती। हाय! काहे को मिलेंगे ऐसे बेशरम।

ऊपर के अवतरण की शक्ति-विशेषता प्रकट ही है। ऐसे स्थल उनके प्रायः सभी प्रमुख नाटकों में मिलते हैं। पाठक पर इस शैली का विशेष प्रभाव पड़ता है।

इस शैली के प्रधानतः दो रूप हैं। एक तो साहित्यिक लेखों में पाया जाता है और दूसरा ऐतिहासिक लेखों में। इन दोनों में विशेष अन्तर यह है कि प्रथम में कुछ सरसता है और द्वितीय में शुष्कता। साहित्यिक शैली का उदाहरण यह है—

गवेषणात्मक शैली

किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन या उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंत:पटी व चित्रपट या दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन उपादान किंवा शैली प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखलाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु, अध्ययन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंत:पटी परिवर्तन द्वारा वन, उपवन या पर्वतादि की प्रतिवर्ग के अपवाद के भय से श्री राम कृत सीता-परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता ? इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्व काल में यह सब अवश्य दिखाया जाता था।

—नाटक (साहित्यिक लेख)

भारतेंदुजी ने नाटक-रचना-प्रणाली के विषय में 'नाटक' शीर्षक एक लेख लिखा था। इसी में प्रतिकृति के तथ्यातथ्य-निरूपण में उन्होंने उक्त वाक्य लिखे हैं। इस अवतरण की भाषा परिचयात्मक अथवा भावात्मक शैली की भाषा से भिन्न है। इसमें न तो फारसी के शब्दों का प्रयोग ही किया गया है और न छोटे-छोटे वाक्य ही लिखे गये हैं। इसका कारण विषय की गम्भरता है। अब दूसरा उदाहरण देखिए जिसमें उदयपुर के प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया गया है—

बप्पा ब्राह्मणगण का गोचारण करते थे। उनकी पालित एक गऊ के स्तन में ब्राह्मणगण ने उपर्युपरि किमिद्दिवसि तक दुग्ध नहीं पाया, इसमें संदेह किया कि बप्पा इस गौ को दोहन करके दुग्धपान कर लेते

है। बप्पा इस अपवाद से अति क्रुद्ध हुए किन्तु गऊ के स्तन में स्वरूपतः दुग्ध न देखकर ब्राह्मणगण के संदेह को अमूलक न कह सके। पश्चात् स्वयं अनुसंधान करके देखा कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत-गुफा में जाया करती थी और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उसके स्तन पयः-शून्य हो जाते हैं। बप्पा ने गऊ का अनुसरण करके एक दिन गुहा में प्रवेश किया और देखा कि उस बेतस वन में एक योगी ध्यानावस्था में उपविष्ट है।

—उदयपुरोदय (इतिहास)

गंभीर शैली के उक्त दोनों अवतरणों की शुद्ध संस्कृत प्रधान भाषा देखने से स्पष्ट होता है कि तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिए ही भारतेंदुजी ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है और भाषा की गंभीरता का मुख्य कारण विषय का गम्भीर होना है। ऐसे विषयो की सम्यक् विवेचना करते समय परिचयात्मक शैली का सरल प्रभाव नहीं रह जाता। परन्तु ऊपर दिये हुए ऐतिहासिक अवतरण के विषय मे हमें एक बात और कहनी है। यद्यपि इस पुस्तक, 'उदयपुरोदय' से उनकी 'पुरावृत्तानुसंधान-प्रेम तथा मनन-शीलता' अवश्य प्रकट होती है तथापि हमें उसकी भाषा में कृत्रिमता की झलक मिलती है। कारण, हमारी सम्मति में, उक्त विषय उतना गहन नहीं था जितना बना दिया गया है।

हास्य और व्यंग्य का पुट

भारतेंदु हरिश्चद्रजी के पहले तक हिन्दी-गद्य में हास्य और व्यंग्य प्रायः मिलता ही नहीं है परन्तु इस समय जब साहित्य में दलबन्दियाँ आरम्भ हो गईं तब अपने विपत्ती की बातों का उत्तर देने और समाज तथा धर्म-क्षेत्र में फैले हुए पाखंडियों की पोल खोलने के लिए, हास्य और व्यंग्य की आवश्यकता भी भारतेंदुजी ने समझी। साहित्य का प्रचार-कार्य जितना हास्य और व्यंग्यपूर्ण रचनाओं से हो सकता है उतना गम्भीर अध्ययन की कृत्तियों से नहीं। इसलिए भी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य की पुट अनिवार्य हो जाती है। तीसरी बात यह कि कोई भी मनुष्य सदैव गम्भीर विषयों का

मनन नहीं कर सकता इन्हीं सब कारणों से भारतेंदुजी ने अपनी रचनाओं को हास्य और व्यंग्य की पुट देकर विशेष रोचक बनाया है। यहाँ ऐसे दो एक छोटे-छोटे अवतरण पाठकों के मनोरंजन के लिए दिये जाते हैं—

इतने में कोलाहल हुआ—लाट साहब आते हैं। राव नारायणदास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला और पुकारे 'स्टैंड अप' (खड़े हो जाव)। सब के सब एक संग खड़े हो गये। राय साहब का 'सिट डौन' कहना तो सबको अच्छा लगा पर 'स्टैंडअप' कहना सब को बुरा लगा—मानो भले बुरे का फल देने वाले राय साहिब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और सब लोग बैठ गये। वाह वाह दरबार क्या था 'कठपुतली का तमाशा था' या वल्लमटेरों की कवायद थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या फौजदारी की सजा थी।

—'लेवी प्राण लेवी'

इस अवतरण का सरल हास्य सजीव है। साथ ही दरबार में पहुँचने वालों की परेशानी भी दिखाई दे जाती है। अब दूसरा उदाहरण लीजिये—

फिर महाराज जो धन की सेना बची थी उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने दुश्मन की सारी फौज तितर-बितर करदी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि बंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चन्दे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिस' धूम निकल पड़ी। भोला भाई बनाकर मूड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजो, खुशामद हुई, डर दिखाया गया। बराबरी का झगड़ा उठा, धायँ-धायँ गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई गई, बस हाथी के खाए

फैंत हो गये। धन की सेना भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र पार ही शरण मिली। —भारत दुर्दशा

इस परिच्छेद में बड़ा मीठा व्यंग्य है। हमारे भारत की दुर्दशा का एक सत्य कारण बताया गया है। भारत के धन की सेना की क्या आज अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश ने नहीं लूट लिया है। हमारी भागी हुई धन-सेना को सात समुद्र पार आज शरण नहीं मिली है? आज के ५०-६० वर्ष पहले यह बात भारतेंदु-सरीखे देशभक्त को ही सूझ सकती थी। इस अवतरण में मुहावरों का सुन्दर प्रयोग है। उनसे भाषा में जो सजीवता आ गई है, देखते ही बनती है।

मुहावरों और लोकोक्तियों का जो प्रयोग ऊपर दिये हुए, विशेष कर अन्तिम अवतरण मे मिलता है वैसा ही उनकी प्रायः सभी रचनाओं मे हम पाते हैं। इनके प्रयोग से, भाषा में सजीवता और शक्ति आ जाती है। 'बहुतेरे भाव इनके प्रयोग से खिल उठते है और भाव-व्यंजन मे बड़ी सुगमता हो जाती है। मुहावरे में थोड़े शब्दों में अधिक बातें समाविष्ट रहती हैं।' यही बात लोकोक्तियों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतेन्दुजी इनकी शक्ति को समझते थे। इसीसे इन्होंने चने चबाना, गूँगे का गुड़, मुँह देखकर जीना, आँखें भर आना, नजर चुराना, छाती ठंडी होना, छापा मारना, अंधे की लकड़ी, कान न दिया जाना, झख मारना, बात लगाना, पाले पड़ना, जी से उतरना, आँख लगाना, नीचा दिखाना, कुछ न गिनना, रंग में मस्त रहना, सोलहो दंड एकादशी, कोख में आग लगाना, कलेजे पर सिल रखना आदि मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है। लोकोक्तियाँ भी इनकी रचना में इसी प्रकार मिलती हैं।

मुहावरों का प्रयोग

भारतेन्दु जी ने एक स्थान पर कहा है—हिंदी नई चाल मे ढली सन १८७३ में। उस वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण बात है 'हरिश्चंद्र मैग जीन' का प्रकाशन। यदि भारतेन्दु जी ने इसी की ओर संकेत किया है तो हमें इसकी भाषा का नमूना देखना पड़ेगा।

भाषा

हम सर्कार से और अपने सब आर्य भाइयों से हाथ जोड़ निवेदन करते हैं इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हठ छोड़कर सुनें। यदि सर्कार कहे कि हम धर्म के विषय में नहीं बोलते तो उसका हमसे पहले उत्तर सुन ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परमधर्म है इसको सरकार ने बलपूर्वक क्यों रोका है? क्योंकि धर्म प्राण से सम्बन्ध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सबसे पहले मान्य है। वैसे ही जो हम कहेंगे उससे भी प्रजा के प्राण से सम्बन्ध है इससे सर्कार को अवश्य सुनना चाहिए।

भारतेन्दु जी की इस भाषा में हमें न तो लल्लूलाल का ब्रजभाखापन दिखाई देता है और न सदल मिश्र का पूर्वीपन ही। मुंशी सदासुखलाल की पंडिताऊ भाषा के भी भारतेन्दुजी पक्ष में नहीं थे। राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन के तो वे विरोधी थे ही, साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह की विशुद्धता का भी उन्होंने अनुकरण नहीं किया। अंतिम बात

भाषा के पूर्व रूप

मार्के की है। उनके प्रादुर्भाव के समय हिंदी के दो प्रधान रूप प्रचलित थे। पहला, राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृत-प्रधान रूप जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होता था। और दूसरा सरल भाषा का प्रचलित रूप। कालान्तर में, कारण विशेष से, राजा शिवप्रसाद ने उस सरल रूप में अरबी-फारसी के तत्सम शब्द भरना आरंभ कर दिये। यों, हिन्दी के तीन प्रधान रूप हो गये। पहला, राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृति की तत्समता से प्रभावित; दूसरा अरबी-फारसी की तत्समता से प्रभावित; और तीसरा, प्रचलित भाषा का सरल रूप। अंतिम अर्थात् सरल भाषा में ही अरबी-फारसी के शब्द भर, राजा शिवप्रसाद ने भाषा को नवीन रूप दिया था। यही बात, ठीक इसके विपरीत, राजा लक्ष्मणसिंह ने की थी; उन्होंने अरबी-फारसी के स्थान पर संस्कृत के शब्दों को अपनाया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के ये दोनों रूप प्रकृत नहीं हो सकता था।

भारतेन्दुजी की साहित्य-सेवा का उद्देश्य अपना मनोरंजन करना न होकर जनसाधारण को उन्हीं की दशा से परिचित कराकर साहित्य की उन्नति करना था। इस कार्य में उन्हें सफलता तभी मिल सकती थी जब वे जनता की भाषा में ही अपने भाव प्रकट करते। यही उन्होंने किया भी। भाषा के दोनों कृत्रिम अप्रचलित रूपों को छोड़कर उन्होंने तीसरे सरल और प्रचलित रूप को ग्रहण किया; मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उनकी इस भाषा में अरबी-फारसी के वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो हिन्दी भाषा में घुल मिल गए थे। जनाना: नाराज, हफ्त:, मसाल:, खुर्मा:, चाशनी, खफगी, ज्याद: आदि अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग न कर उनका प्रचलित रूप, यथा, जनाने, नाराज- हफ्ता, मसाला, खुरमा, चासनी, खफगी, जादे आदि, अपनाए हैं। तफल, कलेजा, जाफत, खजाना, आदि शब्द भी प्रचलित रूप में ही अपनाए गये हैं, उनके नीचे नुकता नहीं दिया गया है। इसी प्रकार अँगरेजी के टिकट, अँधरी मजिस्टर, कमेटी, पतलून, किरातनी आदि शब्द भी जैसे बोले जाते हैं वैसे ही लिखे गये हैं; उनका शुद्ध रूप लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है। संस्कृत के भी जजमान, मूरत, नहान, आपस, गुनी, अच्छे, आस, भलेमानस, हिया, लच्छन, जोतसी, आँचल, जोबन, अगनित, अचरज, प्रभृति शब्द हिंदी में घुल-मिल कर उसी के हो गए हैं। भारतेन्दुजी ने इनका प्रयोग भी इसी रूप में किया है, तत्सम मे नहीं। इनके ये रूप कानों को किंचित-मात्र भी अखरने वाले नहीं हैं। इनका प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या न्यूनता आ गई हो यह बात भी नहीं है; वरन्, इसके विपरीत, भाषा और भी व्यावहारिक और मधुर हो गई है। इनका प्रयोग इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन

भारतेन्दु की भाषा का रूप

आ गया और उसका रूप और भी व्यावहारिक तथा सरल हो गया। यह भारतेन्दु जी की नई उद्भावना थी। यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

भारतेन्दुजी की भाषा में कुछ दोष भी है। उनका प्रधान कारण भाषा का प्रारंभिक अविकसित और अपरिष्कृत अवस्था में होना था। उन दोषों से अपनी भाषा को बचाना भारतेन्दु जी के लिए भी संभव न था। अतः उनको छोड़कर यहाँ उनकी भाषा शैली उन्हीं विशेषताओं की विवेचना की गई है जिसके कारण पंतजी ने अपनी यह पंक्ति लिखी थी—

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण।

———

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

(सन् १८५६-६४)

पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता पंडित संकटाप्रसादजी ज्योतिषी थे और पुत्र को भी ज्योतिर्विद ही बनाना चाहते थे; पर मस्त-तबियत बालक को जन्म-पत्र बनाने और ग्रह-नक्षत्र की गणना का झंझट पसन्द न था। तब पिता ने उसे अँगरेजी स्कूल में भर्ती कराया। यहाँ भी बालक का मन पहाड़े और 'स्पेलिंग' रटने में न लगा। फिर यह बालक पादरियों के स्कूल में भेजा गया। लेकिन वहाँ भी वह बहुत दिन तक न टिक सका। हाँ, स्कूल जाने से एक लाभ यह अवश्य हुआ कि बालक प्रतापनारायण को हिन्दी और संस्कृत की रुचि हो गई। धीरे-धीरे, घर पर पढ़ कर उसने उर्दू, फारसी, संस्कृत, बँगला आदि भाषाएँ सीख लीं।

परिचय

मिश्रजी ने लेख लिखे और कविता भी की। पत्र के वे सम्पादक भी थे और हिन्दी का प्रचार भी किया करते थे। पर उनका वास्तविक महत्त्व साहित्यिक लेखों के कारण ही है उनके लेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हास्य और व्यंग्यपूर्ण ढंग से वैसे लेख हिंदी में, उनके पहले ही नहीं उनके बाद भी कम लिखे गये हैं। निबन्ध-लेखन-कला की दृष्टि से इस क्षेत्र में उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

हिंदी-सेवा

मिश्रजी की कविता उद्देश्यपूर्ण और सामयिक, दोनों प्रकार की है। यद्यपि जनता ने उनकी कविता का उस समय आदर किया था, पर वह बहुत उच्च कोटि की नहीं है और आज-कल के विद्यार्थी तो शायद उसे पसन्द ही न करेंगे।

(अ) अनुवाद—'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय', 'चरिताष्टक', 'पंचामृत', 'नीतिरत्नावली', 'कथाकाला', 'संगीतशाकुन्तल',

'वर्णपरिचय'—तृतीय भाग, 'सेन वंश का इतिहास',
ग्रन्थ 'सूबे बँगाल का भूगोल।'

इनमें से पहली चार पुस्तकें बंगाल के सुप्रसिद्ध लेखक बंकिम बाबू के उपन्यासों के अनुवाद हैं। पाँचवीं पुस्तक में बंगाल के आठ महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। आठवीं और दसवीं पुस्तक ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद हैं। शेष पुस्तकों का परिचय नाम से ही मिल जाता है, इनमें संगीत शाकुन्तल नामक पुस्तक अच्छी है।

(आ) नाटक—'कलिप्रभाव', 'हठी हमीर' और 'गो-संकट'।
(इ) समय—'कलिकौतुक' और 'भारत-दुर्दशा।'
(ई) काव्य—'मन की लहर', 'शृंगार-विलास', 'लोकोक्तिशतक', 'ब्राडला-स्वागत', 'तृप्यंताम' और मानस-विनोद।
(उ) संग्रह—'प्रताप-संग्रह' और रसखान-शतक।
(ऊ) आल्हा—'दंगल-खंड'।
(ए) प्रहसन—जुआरी-खुआरी प्रसहन।

साहित्यिक दृष्टि से इन पुस्तकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इनके नाटक और रूपक भी साधारण कोटि के ही हैं। हाँ, भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में जो राष्ट्रीयता और सामाजिक सुधार की झलक पाई जाती है और नाटक साहित्य को समयोपयोगी बनाने के लिए जिस पद्धति का उन्होंने प्रचार किया, मिश्रजी के नाटकों में उसका अनुकरण और समावेश सन्निहित है। कविताओं में 'तृप्यंताम' उपदेशात्मक है। उसमें देश की दशा का चरित्र चित्रित किया गया है। 'लोकोक्ति शतक' में एक-एक कहावत पर एक-एक पद्य है। इसमें ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण स्वयं कोई कहावत है। दोनों संग्रह भी साधारण ही हैं।

मिश्रजी के विचार स्वतंत्र थे। समाज और धर्म के क्षेत्र में बढ़ती हुई कुरीतियों का वे सुधार करना चाहते थे। इसी प्रकार हिंदी-सेवा भी उनके जीवन का उद्देश्य था, उर्दू से हिंदी का पीछा छुड़ा कर उसका प्रचार करने के लिए वे तन मन, धन से तैयार रहते थे। सामाजिक

प्रिय-विषय

धार्मिक-सुधार तथा हिन्दी-प्रचार की ये बातें उनके समय में महत्त्वपूर्ण समस्याएँ बन गई थीं। अतः जो लेख मिश्रजी ने इन समस्याओं को लेकर लिखे उन्हें 'सामयिक' कह सकते हैं। 'शिवमूर्ति', 'धरतीमाता', 'खुशामद', 'होली है', 'सोने का डंडा और पौंडा' आदि लेख ऐसे ही हैं। इनके अतिरिक्त मिश्रजी ने, 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत', 'बात', 'आय', 'काल' आदि कुछ साहित्यिक लेख भी लिखे हैं। निबन्ध-कला की दृष्टि से द्वितीय प्रकार के लेख अपेक्षाकृत सुन्दर हैं।

मिश्रजी की शैली दो प्रकार की है। पहले में गम्भीरता की पुट है और दूसरा रूप हास्य और व्यंग्यपूर्ण है। पहले प्रकार की शैली के

शैली

उदाहरण मुख्यतः उनके शुद्ध साहित्यिक लेखों में मिलते हैं, यद्यपि उनमें भी वे अधिकांश स्थलों पर गम्भीर नहीं रह सके हैं। इसका एक उदारहण देखिए—

शरीर के द्वारा जितने काम किये जाते हैं उन सबमें मन लगाना आवश्यक रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता से होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते, वह वास्तव में अच्छे काम भी हैं किन्तु भले प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में ध्यान मग्न रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ और अनर्थपूर्ण कर देता है।

मिश्रजी की गम्भीर शैली का यह सुन्दर उदाहरण है। जान पड़ता है लेखक हास्य से बहुत बचाकर यह परिच्छेद लिख रहा है। यों मिश्रजी ने गम्भीर विषयों की विवेचना भी हास्य-पूर्ण शैली में ही की है परन्तु कभी-कभी गम्भीर विषय के फलस्वरूप उनकी भाषा संयत एवं

गम्भीर हो जाती है। देखिये—

अकस्मात् जहाँ पढ़ने-लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, जो चेत दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भांति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्वकाल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकें उस दशा मे भी इतनी घबड़ाहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है। क्योंकि विचार शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख-दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।

उक्त अवतरण जिस गम्भीर शैली मे लिखे गये हैं, वह मिश्रजी की विनोदी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उनका सच्चा प्रयत्न तो सदा यह रहता था कि कैसा ही गम्भीर विषय क्यों न हो, उसका प्रतिपादन विनोदपूर्ण और मनोरंजक ढग से ही किया जाय। इस बात को 'ब्राह्मण के उद्देश्य' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट लिख भी दिया था—

(क) हाँ, एक बात रही जाती है कि हममें कुछ औगुण भी हैं, सो सुनिए। जन्म हमारा फागुन में हुआ है और होली की पैदाइश प्रसिद्ध ही है। कभी कोई हँसी कर बैठे तो क्षमा कीजिएगा। सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगी।

इसी के आगे उन्होने लिखा है—

(ख) वास्तविक वैर हमको किसी से भी नहीं है पर अपने करम लेख से लाचार हैं। सच कह देने में हमको संकोच न होगा। इससे जो महाशय हम पर अप्रसन्न होना चाहें पहिले उन्हें अपनी भूल पर अप्रसन्न होना चाहिए।

मिश्रजी के इन दोनो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर हम उनके लेखों का अध्ययन करें तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उनकी विनोदपूर्ण मनो-

रंजक शैली दो प्रकार की है—एक में हास्य और विनोद साधारणत: प्रधान है और दूसरे में व्यंग्य और कटाक्ष। साधारणत: उनकी शैली में हास्यव्यंग्य का सुन्दर मिश्रण दिखाई देता है। मिश्रजी की दूसरे प्रकार की शैली का वास्तविक रूप यही है और उनका कोई भी लेख लिया जाय, पाठक को इस शैली का उदाहरण मिल जायगा। यहाँ हम दो अवतरण दे रहे हैं—प्रथम में 'ब्राह्मण के उद्देश्य' (क) की प्रधानता है और दूसरे में (ख) की। पहला अवतरण—

विनोदपूर्ण शैली के रूप

यह तो समझिए यह देश कौन है? वही न जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी दो एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं, जहाँ धर्म-ग्रन्थों में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृंगार-रस मे भी भूचाल और कटाक्ष-बाण, तेग-अदा व कमाने अब्रू का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना यानी सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है। पर क्या कीजिए अवसर न मिलने ही से 'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गए तोंदिआय'।

तह अवतरण 'दशहरा और मुहर्रम' शीर्षक लेख से लिया गया है। व्यग्य के साथ विनोद का सुन्दर पुट प्रत्यक्ष है। वास्तव में, मिश्रजी ने किसी बात को सीधे सादे ढंग से नहीं कहा, यद्यपि उनकी भाषा प्राय: सदैव सीधी-सादी और सरल होती थी। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते हैं त्यो-त्यो हमारी उत्सुकता बढ़ती जाती है। इस शैली की यही विशेषता है। दूसरा अवतरण—

यह कलजुग है। बड़े-बड़े बाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मन, प्राण सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरंग मे हाथी मच्छर, सूरज जुगनू दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव मे उसके सेवको के लिए कभी-कभी उसका सेवन करना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बने बैठना। सुनिए!

संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता का कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दोनों गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

—प्रताप समीक्षा पृष्ठ १३६

यह उद्धरण 'होली है' शीर्षक लेख से लिखा गया है। मदिरा पीने वाले अपने पक्ष में जो बातें किया करते हैं उनकी कितनी कटाक्षपूर्ण मार्मिक व्याख्या है। यह सारा लेख इसी शैली में लिखा गया है।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों में शैली-विषयक दो विशेषताएँ मिलती हैं। पहली विशेषता है, मुहावरों और कहावतों का सुन्दर और समयानुकूल प्रयोग करना। साधारण मुहावरों का जैसा मुहावरे और कहावतें चमत्कारपूर्ण प्रयोग मिश्रजी ने किया है वैसा हिंदी के अन्य लेखकों की रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलता है। कहीं-कहीं तो इनकी झड़ी-सी लग गई है। देखिये—

डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। 'बात ही हाथी पाइये बातें हाथी पाँव।' बात ही से पराये अपने और अपने पराए हो जाते हैं।

—प्रताप समीक्षा पृष्ठ १०६

मुहावरों के बाहुल्य की बात तो जाने दीजिये, उनके कई लेखों के शीर्षक भी मुहावरे या कहावत ही हैं। यथा—'मरे को मारे साह मदार' ऊँच निवास नीच करतूती' 'घूरे के लत्ता बिनै कनातनका डौल बाँधै', 'जानें न बूझें कठौता लेकर जूझें', 'टेढ़ जानि शंका सब काहू।'

उनकी शैली की दूसरी विशेषता है उनकी रचनाओं में व्यक्तित्व की छाप। इसका तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते

व्यक्तित्व की छाप

हैं, त्यों-त्यों हम उनके व्यक्तित्व से परिचित होते जाते हैं तथा उनके स्वभाव की अन्य विशेषताएँ जानने की इच्छा प्रबल होती जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैसा उनका जीवन सरल और सीधासादा था उसी प्रकार शैली में भी अपनी विद्वता प्रदर्शित करके कृत्रिमता लाने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की। जब कृत्रिमता रही नहीं, तब हम उनकी रचनाओं में सरलता पाते हैं। यही एकरूपता और सरलता मिश्रजी की शैली की घनिष्टता का प्रधान कारण जान पड़ती है।

अपनी इस अंतिम विशेषता के कारण ही मिश्रजी ने अपने समकालीन हिंदी-साहित्य-सेवियों में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

भाषा

मिश्रजी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र की तरह ही, जनसाधारण की प्रचलित भाषा को अपनाया; पर भारतेंदु की भाषा में जितनी गहरी नागरिकता की छाप है, मिश्रजी की भाषा में उतना ही ग्रामीणता का पुट है। साथ ही, उन्होंने अपनी जन्म-भूमि में प्रचलित घरेलू शब्दों और मुहावरों का निःसंकोच प्रयोग किया है जिससे पूर्वीपन की झलक भी उनकी भाषा में मिलती है। 'आनन्द लाभ करता है', 'तो भी', 'बात रही', 'शरीर भरे की', 'चाय की सहायता से', 'कहाँ तक कहिए', 'हैं कै जने' आदि प्रयोगों से पंडिताऊपन और ग्रामीणता झलकती है। बात यह है कि यदि उन्हें कभी अपना भाव प्रकट करने के लिये हिंदी का कोई उचित शब्द न मिलता तो वे संस्कृत या फारसी शब्दों का प्रयोग न करके पहले ग्रामीण शब्दों द्वारा अपना भाव व्यक्त करने की चेष्टा करते और यदि कृत-कार्य न होते, तो संस्कृत के अधिक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते; यदि कभी संस्कृत का शब्द ठीक न मिलता तो अरबी, फारसी के अति प्रचलित शब्द जो हिन्दी से इतने घुल-मिल गये हैं कि विदेशी जान ही नहीं पड़ते, ढूँढ़ते। 'नेचर' 'टाइप' 'मेमोरियल' 'नेटिव' आदि अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया है, पर बहुत कम।

मिश्रजी ने कुछ शब्दों के इमले की ओर यथोचित ध्यान नहीं

दिया है। 'रिषि', 'रितु', 'ग्रहस्त', 'लेखनी' 'औगुण' आदि शब्दों को उन्होने इसी तरह से लिखा है। कहीं-कहीं पर व्याकरण संबंधी दोष भी हैं। विराम चिन्हों का प्रयोग उन्होंने कम किया है। फिर भी मिश्रजी की भाषा में सजीवता और चलाऊपन है कि पाठकों का ध्यान उसकी रोचकता और सादगी की ओर खिच ही जाता है। उनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

भाषा के कुछ दोष

यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो, तो आपस के जितने कागज़-पत्तर, लेखा-जोखा, टीम-तमस्सुक हो सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिन्दुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते हैं, उनके यहाँ पडितो से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो। चाहे कोई हँसे, चाहे धमकावे, जो हो सो हो, तुम मनसा-वाचा-कर्मणा से उर्दू को लू-लू देने में सन्नद्ध हो। इधर सरकार से भी झगड़े-खुशामद करो, दाँत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो, एक बार दु कारे जाओ, फिर धरने दो; किसी भाँति हतोत्साह न हो, हिम्मत न हारो, जो मनसाराम काँचयाने लगे तो यह मन्त्र सुनादो... बस फिर देखना पाँच-सात बरस में फारसी छार-सी उड़ जायगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसैं का चुकरा गावै का छीता हरन' 'घूरे के लत्ता बिन्नैं कनातन का डौल बाँधैं'।

सीदी-सादी चलताऊ भाषा के इस उदाहरण में, हमें हिन्दी-उर्दू-संबंधी आधुनिक आन्दोलन के विषय मे मिश्रजी के विचार भी मिल जाते हैं।

मिश्रजी के संबध में विशेष जानकारी के लिए लेखक की 'प्रताप समीक्षा' नामक पुस्तक देखें।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(सन् १८४४-१९१४)

पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म सन् १८४४ में प्रयाग में हुआ था। बाल्यकाल में घर ही पर इन्हें संस्कृत की शिक्षा दी गई। पश्चात् ये मिशन स्कूल में अंगरेजी पढ़ने के लिये भेजे गये। स्कूल का हेडमास्टर एक पादरी था। एक बार कुछ वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और पूर्ववत संस्कृत ही पढ़ने लगे। इसी समय इन्हें जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक की जगह मिल गई। परन्तु कुछ समय पश्चात ही धार्मिक विषयों के कारण इन्हें यह स्कूल भी छोड़ना पड़ा। कुछ दिनों व्यापार करने की भी इन्होंने विफल चेष्टा की। अन्त में, सब छोड़ कर ये हिन्दी-साहित्य-सेवा करने लगे और कुछ ही समय में इनकी गिनती प्रसिद्ध लेखकों में की जाने लगी।

परिचय

सन् १८७६ में प्रयाग की हिन्दी-वर्द्धिनी नामक सभा ने 'हिन्दी-प्रदीप' नाम से एक मासिक-पत्र निकाला था। भट्टजी कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ इसके संपादक हो गये। इस पत्र को लगभग ३२ वर्ष तक ये चलाते रहे। इनके सहयोगी कुछ ही समय में पत्र छोड़ कर चले गये; फिर भी बड़ी लग्न और परिश्रम से भट्टजी ने उसके द्वारा हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की। 'हिन्दी प्रदीप' के संबंध में इन्होंने कहा था—

इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छपवा दिये जायं तो निस्संदेह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।

भट्टजी के इस कथन में बहुत कुछ सत्य है; विशेषकर इस कारण कि उनके साहित्यिक लेख भी पहले 'हिन्दी-प्रदीप' में ही प्रकाशित हुए थे।

भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में साहित्यिक निबन्ध लिखने वाले पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ही हैं। इन दोनों ने ही साहित्य के इस रिक्त अंग की पूर्ति के लिए यद्यपि सराहनीय प्रयत्न किया था;

हिंदी-सेवा- साहित्यिक लेख

पंडित बालकृष्ण भट्ट

तथापि भट्टजी के लेख साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर समझे जाते हैं। 'उनके लेखों से साहित्यिकता की आभा फूट-फूट कर निकलती है।' साहित्यकता और कल्पना के मिश्रण ने उनके लेखों को और भी प्रिय बना दिया है। उनके लेखों में भी व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उसी से उनके लेखों की तुलना अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक चार्ल्स बैंक के लेखो से की जाती है। 'आँसू', 'चन्द्रोदय', बाल्यकाल', 'ईश्वर क्या ही ठठौल है', 'नाक नगोड़ी भी वुरी बला है', आदि लेख बड़े सुन्दर और हमारे साहित्य की स्थायी निधि हैं।

गद्य-काव्य के जन्मदाता

जिस गद्य-काव्य की ओर हमारे लेखकों और कवियों की रुचि बढ़ती जाती है, हिन्दी में उसके जन्मदाता हम भट्ट जी को कह सकते हैं। संस्कृत के विद्वान होने के कारण जान पड़ता है, उन्होंने 'कादाम्बरी' के ढंग पर अपने कुछ लेख लिखने का प्रयत्न किया था। उनकी गद्य-काव्य-पूर्ण रचनाओं में सरल और सरस प्रवाह है और कल्पना के सुन्दर पुट के कारण उनमें विशेष रोचकता आगई है।

भट्टजी ने लगभग ३२ वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र का संपादन किया था। यह पत्र प्रधानतः साहित्यिक था, यद्यपि उसमें सामाजिक, तथा राजनैतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले सामयिक तथा अन्य विषयों पर कौतूहल-वर्धक और रोचक लेख भी होते थे। यों उन्होंने हिंदी-पत्रों का 'स्टैंडर्ड' ऊँचा करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था।

साहित्यिक पत्र का संपादन

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने उपन्यास लिखने की चेष्टा की थी। उनके पश्चात् भट्टजी ने भी उपन्यास लिखे। इनका महत्त्व इतना ही है कि ये हिंदी के प्रथम युग के उपन्यासों में से हैं। कथा को रोचक और भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है।

उपन्यास

भट्टजी की मुख्य विशेषता उनकी मौलिकता है। उन्होंने अपने ग्रंथों, विशेषतः लेखों के लिए किसी अन्य भाषा से प्रायः सहायता नहीं ली। इनके विचार इनके अपने हैं, किसी की छाया या अनुवाद नहीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में जब हम हिंदी के निबंध साहित्य से मौलिकता का सर्वथा अभाव-सा देखते हैं तब भट्टजी की इस संबंध में महत्ता का अनुभव करके हमे चकित रह जाना पड़ता है।

मौलिकता

अपने पत्र के लिए सामग्री के संकलन-संपादन में भट्टजी इतने व्यस्त रहते थे कि मौलिक ग्रंथों की रचना के लिये उन्हें समय न मिल पता था; फिर भी पचीसों साहित्यिक लेखो सामयिक टिप्पणियों के अतिरिक्त उन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं।

'सौ अजान एक सुजान' (उपन्यास), 'साहित्य-सुमन', (सुंदर साहित्यिक लेखों का समह), नूतन ब्रह्मचारी' (उपन्यास) 'रेल का विकट खेल', 'बाल-विवाह (नाटक) आदि इनकी पुस्तकें सुंदर हैं।

भट्टजी के ग्रंथ

भट्टजी के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने दो उपन्यास

लिखे हैं और अनेक साहित्यिक लेख। उनके उपन्यासों तथा अन्य सामाजिक और सामयिक लेखों के विषय सरल हैं और साहित्यिक लेखों के गंभीर। प्रथम प्रकार की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य सुधार सकार और मनोरंजन था और साहित्यिक लेखों का ज्ञानार्जन।

ग्रंथों के विषय

बालकृष्ण भट्टजी ने ग्रंथों की रचना जिन दो उद्देश्यों को सामने रखकर की थी, उनके अनुसार रचना-शैली के भी दो प्रधान रूप दिखाई देते हैं। (१) परिचयात्मक शैली। (२) गंभीर भावात्मक शैली। परिचयात्मक शैली की भाषा चलती हुई है जिसमें प्रवाह और सरलता है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं। इसका उदाहरण—

शैली—परिचयात्मक शैली

यह बात बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही ज्योंही तरुणाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज मे आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को वर्ताव में नहीं ला सकता और कभी-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है। यह नरपशु तभी तक सुमार्ग पर चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत और साधु है और तभी तक लोक लाज, लोक-निंदा तथा अपवाद या राजदंड की यातना से बचा हुआ है, जब तक दबसत मे पड़ा हुआ अपने स्वेच्छाचार में प्रवृत्त नहीं होता।

—साहित्य सुमन, पृष्ठ ३०

यह परिचयात्मक शैली प्रायः उनके उपन्यास या कौतूहल-वर्धक सरल निबंधों की है; अतः यह उनकी साहित्यिक शैली की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी नहीं समझी जा सकती। इसका प्रधान कारण यह है कि उपन्यास या अन्य सरल विषयों पर निबंध लिखकर सुगम साहित्य का प्रचार करना ही उनकी साहित्य-सेवा का मुख्य उद्देश्य नहीं था;

वे तो उच्चकोटि के निबंध लिखना चाहते थे क्योंकि उस समय हिंदी में एक प्रकार से, ऐसे निबंधों का अभाव ही था। उनके इस कथन से भी कि—

प्रोज़ (गद्य) हिंदी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेम सागर-सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ है ही नहीं जिसे हम इसके साहित्य भंडार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूरि इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।

यह स्पष्ट होता है कि हिंदी में गद्य-साहित्य का अभाव देखकर उन्हें बहुत दुख होता था। इसीलिये उन्होंने अनेक सुन्दर साहित्यिक लेख लिखे हैं, जिनका संकलन 'साहित्य सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

भावात्मक शैली

भट्टजी के साहित्यिक निबंध प्रायः गंभीर भावात्मक शैली में लिखे गये हैं। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की शुद्धता है। साथ ही, ये आलंकारिक शैली के पक्षपाती भी प्रतीत होते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का प्रयोग इनके गद्य में बराबर मिलता है। इनका 'चंद्रोदय' नामक लेख तो रूपक, संदेह, उत्प्रेक्षा आदि से भरा हुआ है।' उदाहरण के लिए देखिए—

अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है या अंधकार महाराज को हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है अथवा शृंगाररस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है, या तारा-मौक्तिको से गुँथे हार के बीच का यह सुमेर है, अथवा जंगम जगत मात्र को डसने वाले अनंग-भुजंग के फन पर चमकता हुआ मणि है या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है, अथवा जगज्जेता कामदेव का धावा है, या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सिपी है।

—साहित्य सुमन, पृ० ६८-६६।

यही भट्टजी की भावात्मक साहित्यिक शैली है जिसमें काव्य की-सी सुन्दर छटा दिखाई देती है। कल्पना की पुट से जो चमत्कार पैदा होकर उक्ति वैचित्र्य द्वारा हमारा मनोरंजन करता है वही इस शैली की प्रधानता विशेषता कही जा सकती है। जब यह काव्यात्मक चमत्कार अधिक बढ़ जाता है तभी हमे उससें गद्य-काव्य का सा आनन्द आता है। 'चन्द्रोदय' और 'आँसू' दोनों लेख इसके उदाहरण-स्वरूप माने जा सकते है इन लेखो को देखकर कहा जा सकता है कि आगे चलकर मनोविकारों पर जैसे भावपूर्ण लेख शुक्लजी ने लिखे वैसे ही लेख लिखने का प्रथम सफल प्रयत्न भट्टजी ने किया था। यही उनके लेखों का 'एक शब्द मे' महत्व है।

भट्टजी का हास्य सरल न होकर कुछ तीखा और मार्मिक हो जाता था। ऐसे अवतरणो की भाषा भी सरल और चलती हुई है। इसका एक छोटा सा उदाहरण—

शैली मे चुटीला व्यंग्य

सभ्यता और है ही क्या ? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, बनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमे आधे या तिहाई सभ्य हैं, वह जाति अर्द्ध शिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी, अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं। जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों मे लुटेरापन।

—साहित्य-सुमन

भट्टजी ने भी अपने युग के भारतेन्दु तथा मिश्रजी आदि लेखकों की भाँति मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है। गम्भीर लेखों में भी इन्होंने मुहावरो की झड़ी-सी लगा दी है।

मुहावरों का प्रयोग

'बातचीत' जैसे गंभीर विषय पर गंभीर शैली

को अपनाते हुए भी आपने एक स्थान पर लिखा—

वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें नतो करतलध्वनि का मौका है, न लोगों के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं; कोई चुटीली बात आगई, हँस पड़े। मुस्कराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अन्तिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुनने वालों के मन मे जोश और उत्साह पैदा करना हैं। घरेलू बात-चीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें बातचीत की सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

इनकी शैली में दो-एक अन्य बाते भी मार्के की हैं। मिश्रजी की ग्रामीणता के स्थान पर भारतेन्दु की सी नागरिकता के दर्शन इनकी शैली में होते हैं। हिन्दी मे कोष्ठबदी का प्रयोग पहले-पहल भट्टजी ने ही किया था और विराम चिन्हों का समुचित प्रयोग भी उनके लेखों में मिलता है।

भाषा की दृष्टि से भट्ट जी की शैली प्रधानतः दो प्रकार की है। एक में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। और दूसरी मिश्रित शैली है जिसमें संस्कृत शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी बराबर मिलता है तथा कहीं-कहीं पर अँगरेजी के शब्द भी तत्सम और तद्भव दोनों रूपों मे प्रयुक्त हुए हैं। ऊपर दिये हुए अवतरणों को देखने से इन दोनो शैलियों से पाठक परिचित हो जायँगे। विदेशी शब्दों के प्रयोग का मुख्य कारण उनका यह उद्देश्य था कि वे हिंदी-भाषा को इतना व्यापक बना देना चाहते थे जिससे सभी प्रकार के विषयों और भावों को प्रकट करने की क्षमता उसमें आ जाय।

भाषा

अरबी-फारसी के साधारण प्रयोग—गिला, शिकवा, बेतकल्लुफी, नाज-नखरा, खमखाह, साबित, इनाम, बहाल, कौमियत, जुदे-जुदे फिरके, खिलवतगाह आदि—अँगरेजी शब्द—'एजूकेशन',

विदेशी शब्द 'आर्ट आव् कनवरसेशन', 'स्पीच', 'सोसा-यटी', 'पुलपिट', 'फारमैलिटी', 'स्टैंडर्ड', 'कैरेक्टर' 'रूड' आदि तो उनकी भाषा में मिलते ही हैं 'सिम्पल लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिंग', 'आलवेज ऐंडेवर टु बी रियली व्हाट यू उड विश टु अपियर आदि अँगरेजी लोकोक्तियों के साथ-साथ हिन्दी की कहावतों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। यही नहीं, हिन्दी की व्यंजना शक्ति बढ़ाने के लिए विदेशी भाषाओं विशेषकर अँगरेजी के प्रयोगों के आधार पर उन्होंने नये शब्द और मुहावरे गढ़े भी हैं। इस दृष्टि से उनका कार्य वास्तव में सराहनीय है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

(सन् १८६५–१९०७)

गुप्तजी का जन्म सन् १८६५ में रोहतक जिले के गुरियानो गाँव मे एक अग्रवाल वैश्य के घर में हुआ। आरम्भ में उन्होंने उर्दू तथा अरबी-फ़ारसी की शिक्षा पाई और आगे चल करउर्दू में परिचय ही आपने लिखना भी शुरू कर दिया। केवल २२ वर्ष की अवस्था में, सन् १८८५ में उन्हें 'अखबारे चुनार' का संपादक होने का अवसर मिल गया। यह अखबार मिर्जापुर से उर्दू में निकलता था। दूसरे वर्ष वे लाहौर से निकलने वाले 'कोहेनूर' नामक पत्र के सम्पादक हुए। इस समय तक हिंदी मे भारतेंदु तथा उनके समकालीन व्यक्ति काम कर रहे थे इनके तथा कुछ अन्य हिंदी-प्रेमियों के सदुद्योग से हिंदी-प्रचार-संबंधी आंदोलन चला। इससे कदाचित प्रभावित होकर ही गुप्तजी ने हिंदी में लिखना आरम्भ किया। इनको हिंदी क्षेत्र में लाने का श्रेय पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा महामना पंडित मदनमोहन मालवीय को है। संपादन-क्षेत्र में आपका नाम तो हो ही चुका था; अतः हिंदी सीखते ही वे कालाकाँकर के 'हिन्दोस्तान' के संपादक बन गए। यह पत्र हिंदी का दैनिक था। कुछ समय पश्चात् वे 'बंगवासी' के सहकारी संपादक हुए। लगभग ५ वर्ष तक उन्होंने इस पर काम किया। तदुपरांत सन् १८६१ में कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले 'भारत मित्र' के संपादक बने और मृत्यु-पर्यंत उसका संपादन करते रहे।

हिंदी-सेवा

हिन्दी में आने के पहले गुप्तजी दो प्रसिद्ध उर्दू पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और अरबी फारसी का उन्होने अध्ययन भी किया था। फलतः हिन्दी भाषा को अपनाने पर उसे उन्होंने उर्दू की सजीवता

हिन्दी-सेवा भाषा को सजीव बनाना

प्रदान की। यह वास्तव में बड़े सौभाग्य की बात थी कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप-नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि हिन्दी के प्रारम्भिक लेखक उर्दू भाषा के अच्छे विद्वान थे। इनकी, विशेष कर गुप्तजी की कृपा से हिन्दी को जो प्रवाह अथवा सजीवता प्राप्त हुई, वह कुछ समय बाद जन साधारण में हिन्दी-प्रचार के कार्य में विशेष सहायक हुई।

गुप्तजी हिन्दी-व्याकरण के भी पंडित थे। यहाँ तक कि एक बार तो वे पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदोजा से भी व्याकरण के पीछे भिड़ गये थे।* इससे हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग के लेखकों की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी जो दोष रह गये थे उनको दूर करने में गुप्तजी का भी थोड़ा बहुत हाथ अवश्य रहा—यद्यपि यह ठीक है कि गुप्तजी ने द्विवेदी जी की तरह इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य नहीं किया।
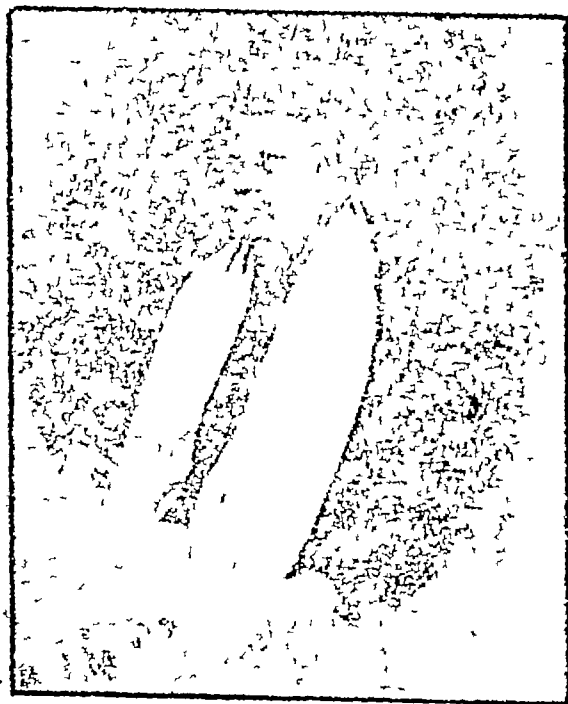
[बाबू बालमुकुन्द गुप्त]

गुप्तजी ने कुछ समालोचनात्मक लेख भी लिखे थे; कदाचित इसका कारण हिंदी की तत्कालीन परिस्थिति थी।

समालोचना कार्य

यद्यपि उन्होंने इस क्षेत्र में अधिक काम नहीं किया, तथापि अपनी प्रौढ़ोक्तियों द्वारा समालोचना की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया।

---

*इसका मनोरंजक वर्णन देखिए 'द्विवेदी मीमांसा' पृष्ठ ६७-८

गुप्तजी ने भारत के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था। इनके व्यंग्यात्मक लेख—'शिवशंभु के चिट्ठे'—इसके उदाहरण हैं।

व्यंग्यात्मक लेख

आपने लेखो में उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की ओर तुलनात्मक संकेत करके बड़ी सुन्दर चुटकियाँ ली हैं। 'विचार-तरंग' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं—भारत, तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कभी कोई हर्षसूचक बात दस बीस पलक के लिये चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए। ऐसी सम्पादकीय चुटकियाँ पाठकों तथा अन्य लेखकों का ध्यान देश की वर्तमान दशा की ओर आकर्षित करने मे समर्थ होती हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र मे गुप्तजी ने ही उल्लेखनीय काम किया है।

नई शैली के जन्मदाता

गुप्तजी एक विशेष शैली के जन्मदाता थे। सरल और सजीव शैली में मनोरंजक ढंग से अनेक लेख लिख कर उन्होंने इस शैली को विशेष लोकप्रिय बना दिया है।

राजनीतिक लेख

नये प्रकार के व्यंगात्मक राजनीतिक लेख लिखने की प्रणाली इन्होंने चलायी। ये लेख पं० प्रतापनारायण मिश्र जी के व्यंगात्मक, सामाजिक लेखों का, देश काल की परिस्थिति के अनुकूल संस्कृत रूप समझे जा सकते हैं।

ग्रन्थ

यों तो गुप्तजी की रचित तथा अनुवादित पुस्तकें 'हरिदास', 'मंडेल भगिनी', 'रत्नावली नाटिका' आदि बतायी जाती हैं, परन्तु इनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है। हाँ, इनके व्यंग्यात्मक लेख, जिनका सकलन 'शिवशंभु का चिट्ठा' के नाम से हुआ है, बड़े सुन्दर हैं। अतः यही उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ समझा जाना चाहए।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तजी ने मुख्यतः दो प्रकार के लेख लिखे हैं:—(१) राजनीतिक, (२) आलोचनात्मक, दूसरे प्रकार के लेखों की संख्या बहुत कम है। ऐसे लेखों में 'भाषा की अस्थिरता' आदि दो-एक लेख ही प्रसिद्ध है। हाँ, पहले प्रकार के लेख संख्या में अधिक हैं। इनके विषय की विवेचना करने से गुप्तजी की शैली से हम बड़ी सरलता से परिचित हो सकेंगे। इन्हीं लेखों की शैली, कुछ परिष्कृत होकर उनकी आलोचनात्मक शैली बन जाती है।

ग्रन्थो के विषय

गुप्तजी ने जिस शैली में अपने राजनीतिक और आलोचनात्मक लेख लिखे हैं उसे हम साधारणतः परिचयात्मक शैली कह सकते हैं।

शैली—
परिचयात्मक शैली

इस शैली की विशेषता है छोटे-छोटे वाक्यों का इस प्रकार संगठन करना जिससे भाषा में विशेष प्रवाह रहे और लेख के प्रति पाठकों की रुचि बढ़ती जाय। गुप्तजी अरबी-फारसी के ज्ञाता थे और हिन्दी मे लिखने के पहले उर्दू में लिखा करते थे तथा दो उर्दू पत्रों के सम्पादक भी रह चुके थे। यही कारण है कि हिन्दी भाषा को अपनाने पर उनकी शैली में उर्दू जनित-प्रवाह आपही आ गया। यह स्वाभाविक था और हिन्दी के लिए उपयोगी भी। उर्दू की चुलबुलाहट इनकी शैली की दूसरी विशेषता है जो पाठकों का मनोरंजन करती हुई चलती है। मुहावरों का प्रयोग तो उर्दू जानने वाले सब लेखक करते ही हैं। गुप्तजी ने भी उनका सुन्दर उपयोग करके अपनी शैली को सजीव बना दिया है। यह उनकी शैली की तीसरी विशेषता है।

राजनीतिक समस्याओं पर जब उन्होंने लिखना आरम्भ किया तब परिस्थिति के कारण उन्हें अपनी व्यावहारिक परिचयात्मक शैली को व्यंगपूर्ण बनाना पड़ा। इसका कारण समझने के लिए हमें इस कथन पर ध्यान देना चाहिए—

उन्होंने (कुछ चुगलखोर लोगों ने) 'कवि वचन-सुधा' (भारतेन्दु

द्वारा संपादित और प्रकाशित) के कई लेखों को राजद्रोह पूरित बताया; दिल्लगी की बातों को भी वह निन्दा-सूचक बताने लगे। 'मरसिया' नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था। यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बन्द हो गई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर कैंपसन साहब ने बिगड़ कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चन्द्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर यहाँ यार लोगों ने जो रङ्ग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चन्द्र की चलाई 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' और 'बाल-बोधनी' नामक दो मासिक पत्रिकाओ की सौ-सौ कापियाँ प्रान्तीय गवर्नमेन्ट लेती थी, वह भी बन्द होगई।

—हिन्दी के आरम्भिक अखबार।

यह कथन स्वयं गुप्तजी का है। वे जानते थे कि हिंदी पत्र यदि निर्भयतापूर्वक सरकारी कामो की आलोचना करेंगे तो उन्हें उसका कोपभाजन बनना पड़ेगा और जो सहायता गवर्नमेंट देती है वह तो बंद हो ही जायगी, कदाचित संपादक या संचालक को जुर्माना देना पड़े या बड़े घर की हवा खानी पड़े।

उपनाम और विशिष्ट शैली का कारण

इसी डर से स्पष्टवक्ता बनकर हिंदी के संपादक सरकार के कामों की आलोचना करने से हिचकते थे। साथ ही, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति, शासको का प्रजा के प्रति व्यवहार, अधिकारियो के अत्याचार, आदि से साधारण जनता बहुत दुखी होगई थी और यह अनिवार्य होगया था कि किसी प्रकार इन सबका भंडाफोड़ किया जाय। दूसरे शब्दों मे, प्रजा अधिकारियों को रीति-नीति और अत्याचारों से असंतुष्ट तो हो गई थी और चाहती भी थी कि किसी प्रकार उनके कार्यों को आलोचना की जाय, परंतु दंड के डर से उसमें इतना साहस न था कि निर्भय होकर स्पष्टता पूर्वक उन पर अपेक्षा करे। यही कारण है कि गुप्तजी ने अपने लेख 'भगेड़ी

'शिव शंभु शर्मा' के ही नाम से अधिक लिखे। यह नाम कल्पित था और केवल इसीलिए रक्खा गया था कि पाठकों का मनोरंजन हो, वह राजनीतिक परिस्थित—लेख के विषय से परिचित भी हो जाय और साथ ही, सरकार को संपादक पर दोषारोपण करने का अवसर भी न मिले। 'भंगेड़ी' विशेषण का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया था जिसमें जान पड़े कि लेखक नशे में बक रहा है, अधिकारियों को उसकी बातों पर गंभीर होकर. ध्यान नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार कभी-कभी उस व्यक्ति का भी वे कल्पित नाम रख लेते थे जिस पर उन्हें आक्षेप करना होता था। ऐसा करने से संबंधित व्यक्ति तो इनका आशय समझ ही जाता था और जन साधारण का उससे मनोरंजन भी खूब होता था। यही इनकी शैली की चौथी विशेषता है जिससे इनका व्यंग्य लक्षित व्यक्ति को सजग और सावधान तो अवश्य कर देता था, परंतु क्रुद्ध या आहत नहीं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए—

नारंगी के रस में जाफरानी वसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदे भर रहा था। हाथ पाँव को भी स्वाधीनता दे दी गई थी। वे खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत वारवार अमृत ढालने लगा—

चलो, चलो, आज खेलैं होली, कन्हैया घर।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा—बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में

सावन देख कर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिए था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गाने वाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने वसंत को सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की-सी अँधियारी है, वर्षा को झड़ी लगी हुई है ओह! कैसा ऋतु विपर्यय है।

इस विचार को छोड़ कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि—'चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे।' कौन? व्रज के राजकुमार। और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशंभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिल कर आनंद मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनंद को किसी समय अपना आनन्द समझते थे? यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिचकारियाँ लिए अपने राजा के घर होली खेलने जाय तो कहाँ जायँ? राजा सात समुद्र पार है। न राजा ने शिवशंभु को देखा, न शिवशंभु ने राजा को। खैर राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर व्रजवासियों को संतोष देने के लिए व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी।

—एक दुराशा

इस अवतरण पर यदि उक्त विवेचन को ध्यान में रख कर विचार करें तो जान पड़ेगा कि गुप्तजीने किसी राजनीतिक समस्या पर गंभीर होकर विचार नहीं किया है। केवल एक चुटकी

आलोचना ऐसी ली है जिसकी सत्यता देख कर हमारे हृदय में एक कसक उठती है; साथ ही यह मार्मिक व्यंग्य किसी को आहत भी नहीं करता। छोटे छोटे वाक्यों का सरल प्रवाह बड़ा सुन्दर है। भाषा भी सरल है; अरबी-फारसी के दो-एक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; परन्तु उनसे भाषा में सजीवता ही आई है। संस्कृत के तत्सम शब्द भी इसी प्रकार उनकी भाषा में मिल जाते हैं; और उर्दू के साथ मिल कर भाषा को रुचिरता प्रदान करने में ही सहायक होते हैं। यही उनकी व्यावहारिक परिचयात्मक शैली है जिसमें उन्होंने अपने हास्य और व्यंग्यमय राजनीतिक लेख लिखे हैं।

आलोचनात्मक शैली

इसी शैली में से यदि हम चुलबुलाहट और व्यंग्य की मात्रा कम करदें तो हमें उनकी आलोचनात्मक शैली का ज्ञान हो जायगा। गुप्त जी ने आलोचना सबंधी लेख अधिक नहीं लिखे, फिर भी दो-चार लेख ऐसे मिलते हैं, वे इसी शैली के सयत और संस्कृत रूप मे हैं। इस 'संस्कृत और संयत' से आशय केवल इतना ही है कि लेखक उन लेखों को लिखते समय अपेक्षाकृत गंभीर हो जाता था; भंग-बूटी छोड़ कर ऐसा पत्र संपादक बन जाता था जो अपना उत्तर-दायित्व समझता है, जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है और जो संपादक की कुर्सी से किसी गंभीर विषय की व्याख्या करके पाठकों के सामने रखता है। भाषा इस समय भी प्राय: वैसी ही है, मुहावरों का प्रयोग भी अवसर मिलते ही किया गया है। उसकी इस शैली का उदाहरण देखने से उक्त कथन स्पष्ट हो जायगा—

यह ठीक है कि श्री लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' की भाषा उनके लिए आदर्श हो सकती थी। पर लल्लू जी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी पोथी ही में रह गई, आगे और पोथियाँ लिख कर किसी ने उनकी चलाई हुई भाषा की उन्नति नहीं की। लल्लू जी ने उर्दू वालों के साथ-साथ ही 'प्रेमसागर' लिख कर हिंदी में गद्य

लिखने की रीति चलाई। दुःख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही पर हिंदी की कुछ न हुई। लल्लू जी के 'प्रेमसागर' की भाँते दस-पाँच और पोथियाँ हिंदी में लिखी जातीं तो 'बनारस अखबार'* को हिंदी लिखने का अच्छा कार्य मिलता, पर लल्लू जी के बाद कोई साठ साल तक उस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। अंत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी ने मरी हुई हिन्दी को फिर से जिलाया।

यह अवतरण देखने से पता लग सकता है कि गुप्तजी की व्यावहारिक आलोचनात्मक शैली की भाषा भी पूर्व रूप के अनुकूल है और वैसे ही वाक्य भी छोटे-छोटे हैं; अंतर केवल इतना ही है कि इस शैली मे वैसी चुलबुलाहट नहीं; हास्य और व्यंग्य की मात्रा भी इसमें बहुत कम है। ऊपर के अवतरण मे तो इसके लिए विषेश स्थान ही नहीं था, परन्तु कहीं-कहीं वे इमसे अधिक तेज हो जाते हैं। ऐसे लेख कम हैं।

---

*यह हिंदी का सबसे पहला समाचार पत्र माना जाता है जो सन् १८४५ में राजा शिवप्रसादजी की सहायता से प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते नामक एक मराठी सज्जन थे। पत्र का मोटो था—

सुबनारस अखबार यह, शिबप्रसाद आधार
बुधि विवेक जन निपुन को, चितहित बारंबार।
गिरिजापति नगरी जहाँ, गंग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखौ विचार-विचार॥

इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है—

यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है, अब यह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हरचेटर तरफ से हो गया बल्कि इसके नकशे का बयान पहले मुन्दर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देख कर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों

'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक उनका लेख ऐसी ही शैली में लिखा गया है।

गुप्त जी आरंभ मे उर्दू में लिखते थे और बाद में हिन्दी में लिखने लगे थे। उर्दू में लिखने के कारण हिन्दी में आने पर भी उनकी भाषा मे उर्दू शब्दो का रहना स्वाभाविक था। तत्कालीन

भाषा

परिस्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि हिन्दी के लिए यह अच्छा ही हुआ। अँगरेजी के भी तत्सम और तद्भाव शब्दों को—मोटो, गवर्नमेंट, डायरेक्टर, लाट साहब—उन्होंने अपनाया तब अरबी-फारसी और संस्कृत को तो बात ही क्या थी? परन्तु उर्दू और हिन्दी से सम्बन्ध में उनका यह विचार—

वास्तव में हिन्दी-उर्दू का बड़ा मेला है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं, केवल फारसी जामा पहिनने से एक उर्दू कहलाती है और देवगारी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिन्दी—

अवश्य विचारणीय है। यदि उनके इस कथन को ध्यान में रक्खें तो उनकी सुसंगठित, मुहावरेदार, चलती और चटपटी व्यंग्य—और विनोद की निराली छटा के कारण—भाषा का मर्म हमारी समझ में आ सकता है।

की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च का तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो सब दानाई साहब ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट से वह मालूम होता है।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

(सन् १८६४—१९३८)

द्विवेदीजी का जन्म सन् १८६४ में हुआ था। उनके पिता फौज में नौकर थे। निर्धनता के कारण उनकी शिक्षा की ठीक व्यवस्था न हो सकी। शुरू में उन्होंने घर पर थोड़ी संस्कृत सीखी; तब वे

परिचय

गाँव के स्कूल में भरती करा दिए गए। पश्चात् अंगरेजी पढ़ने के लिए पहले रायबरेली भेजे गए, फिर फतहपुर और उन्नाव। यों, उन्हें अँगरेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो अवश्य होगया, पर जगह-जगह मारे-मारे फिरने के कारण व्यवस्थित रूप से कहीं न पढ़ सके। इसी समय उन्हें १५) मासिक की एक नौकरी मिल गई। कुछ दिन बाद वे नौकरी छोड़कर बम्बई चले गए और तार का काम सीखते रहे। भाग्य से उन्हें जी० आई० पी० रेलवे मे २२) मासिक पर तार-बाबू की जगह मिल गई। इस समय उनकी अवस्था लगभग २२ वर्ष की थी। कई वर्ष तक वे इसी जगह पर नौकरी करते और ऊँचा ओहदा पाते रहे।

इस बीच में उनकी रुचि विद्या की ओर बढ़ती गई और वे बराबर अध्ययन भी करते रहे। आपकी कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभा के कारण उन्होंने मराठी, गुजराती और बँगला का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए एक पंडितजी बराबर आया करते थे। धीरे-धीरे वे हिन्दी और संस्कृत में कविता करने लगे। इसी समय वे रेलवे में चीफ क्लर्क थे और १५०) वेतन पाते थे। एक दिन साहब से कुछ कहा-सुनी हो जाने के कारण आपने नौकरी छोड़ दी और 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

यद्यपि द्विवेदीजी ने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि 'सरस्वती' की सहायता से भाषा के शिल्पी,

हिन्दी-सेवा विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचालक का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया तथा सम्मान और सफलता के साथ निभाय। । इससे स्पष्ट है कि उनकी हिन्दी सेवा कई मार्गों में झुकी हुई थी—

[पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी)

भाषा-सुधार-कार्य

द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के समय तक हिन्दी के जो लेखक हुए थे उनमे से अधिकांश अपनी भाषा में व्याकरण के नियमों का विशेष ध्यान न रख कर मनमाने ढंग से लिखा करते थे। द्विवेदी जी ने इस दोष को दूर किया और लेखकों को व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने पर विवश किया।

भाषा को विविध विषयों के योग्य बनाना

उस समय तक उपन्यास, कहानियाँ और सरल सामाजिक लेख ही हिन्दी में अधिक लिखे गए थे; पर गम्भीर विषयों की ओर किसी का ध्यान नहीं था। कुछ लोग तो यहाँ तक कहा करते थे कि इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्ति शास्त्र, हिन्दी भाषा, शासन पद्धति, शिक्षा, अनुसंधान, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्व, दर्शन, संगीत चित्रकला, नीति जैसे गम्भीर विषय न हिन्दी में लिखे जा सकते हैं और न कोई उन्हें पढ़ेहीगा। द्विवेदीजी ने ऐसे संकीर्ण विचारों का विरोध किया। इनमें से अधिकांश विषयों पर स्वयं लेख

लिखकर और कुछ पर दूसरों से लिखवा कर उन्होंने इस भ्रम को दूर किया और योग्य लेखको का ध्यान इस कमी की ओर दिलाया।

उनके समय तक हिन्दी की शैली का रूप स्थिर नहीं हुआ था।

शैली की स्थिरता

द्विवेदीजी ने सरल और प्रचलित भाषा का प्रयोग कर नवीन साहित्यिक शैली को जन्म दिया।

विविध विषयों पर दूसरों से लेख लिखा कर तथा अँगरेजी की ओर झुके हुए भारतवासियो को अपनी मातृभाषा में लेख लिखने के लिए प्रोत्साहित करके उन्होंने अनेक लेखको को जन्म दिया। आज-कल के कई प्रसिद्ध लेखक अपने को द्विवेदीजी का शिष्य मानते हैं और यह बात बड़े गर्व के साथ स्वीकार भी करते हैं।

नए लेखक

द्विवेदीजी के पहले हिन्दी में केवल अनुवाद-ग्रन्थ ही दिखाई पड़ते थे, कुछ अँगरेजी से अनुवादित थे कुछ बँगला से और कुछ सस्कृत से। द्विवेदीजी ने नए लेखकों से विविध विषयों पर लेख लिखवा कर मौलिक साहित्य की सृष्टि का सूत्रपात किया।

मौलिकता

द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा का सब से पुनीत आदर्श हिन्दी-भाषा का प्रचार कराना था। इसमें उन्हे बड़ी सफलता मिली हम कह सकते हैं कि एक ओर तो वे लेखक पैदा करते जाते थे और दूसरी ओर पढ़ने वाले भी। आज हिन्दी का जो प्रचार है, उसका अधिक श्रेय द्विवेदीजी को ही दिया जाता है।

हिन्दी-प्रचार

संक्षेप में, हिदी की अनस्थिरता को स्थिरता प्रदान करने, भाषा-संस्कार और परिमार्जन, भाषा की काट छाँट, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, वाक्य-विन्यास की व्याख्या आदि के साथ-साथ हिदी को साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाकर उसमें विचारों के प्राण फूँकने का भगीरथ प्रयत्न उन्होंने किया। प्रेरणा और प्रोत्साहन के

द्वारा अनेकानेक नवीन लेखकों का उन्होंने उत्साह बढ़ाया। तथा अँगरेजी की ओर झुके हुए हिंदी भाषा-भाषियों को हिंदी की ओर खींचा। अन्य भाषाओं से ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन्होंने रत्न निकाले, और उनसे हिंदी का सिंहासन सुसज्जित किया। हिंदी को इन्होंने उस समय चमकाया जब उसमें कोई चमक नहीं थी। यही द्विवेदीजी की हिंदी सेवा का सारांश है।

द्विवेदीजी आरंभ से कविता करते थे; बाद में ज्यों-ज्यों 'सरस्वती का काम बढ़ता गया, कविता छूटती गई। दूसरे, उनकी कविता का समय ने विशेष आदर भी नहीं किया। हाँ, गद्य में उनका लोहा बड़े बड़े मानते थे। कहा जाता है कि द्विवेदीजी ने २५ वर्ष के अन्दर लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में एक हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमे अधिकांश लेख हैं जो कई पुस्तकों में संकलित हो चुके हैं। उनकी मुख्य पुस्तकें ये हैं—

ग्रन्थ

पद्य—कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार-संभव' के ५ सर्गों का पद्यात्मक अनुवाद—१६०२), काव्य-मंजूषा (कविताओं का संग्रह—१६०३), कविता-कलाप (संपादित काव्य संग्रह—१६०६), सुमन (काव्य-मंजूषा का संशोधित संस्करण)

गद्य—बेकन विचार-रत्नावली (अनुवाद—१८६६), नैषधचरित-चर्चा (१६००), हिन्दी-कालिदास की समालोचना (१६०१), शिक्षा (अनुवाद—१६०६), स्वाधीनता (अनुवाद—१६०७), हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति (१६०७), हिन्दी महाभारत—१६०७, संपत्तिशास्त्र (अपने विषय की पहली पुस्तक—१६०७), आलोचनांजलि (लेखों का संग्रह—१६२७), विदेशी-विद्वान (लेखों का संग्रह—१६२७), रसज्ञ रंजन (लेखों का संग्रह—१६३०), चरित्र चित्रण (लेख—१६२६), समालोचना सम्मुचय लेख—१६२८) सुकवि-संकीर्तन (लेख) साहित्य संदर्भ (लेख—१६२६), साहित्य-सीकर (लेख—१६२६), पुरातत्व-प्रसंग (लेख—२६)।

द्विवेदीजी ने हिन्दी में प्रधानतः तीन तरह के लेख लिखे हैं। पहले

ग्रंथों के विषय

तो उन विषयों के जिनका प्रचार हिन्दी में बिल्कुल नहीं था, यथा संपत्ति-शास्त्र, शिक्षा, पुरातत्व आदि। दूसरे प्रकार के लेख आलोचनात्मक हैं और तीसरे, खोज और गवेषणा सम्बन्धी, जैसे नाट्यशास्त्र, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति आदि। इनके अतिरिक्त, चौथे प्रकार के भी दो-एक लेख उन्होंने लिखे जो विशेष गम्भीर साहित्यिक हैं; परन्तु ऐसे लेखों की सख्या कम है।

विषय के अनुसार द्विवेदीजी की भाव प्रकाशन शैली मुख्यत: तीन प्रकार की है—

शैली—परिचयात्मक शैली

परिचयात्मक—द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के समय कई विषय ऐसे थे जिन पर न तो लेख ही थे और न जिनकी ओर पाठक का ध्यान ही जाता था। ऐसे विषयों पर पहले-पहल द्विवेदीजी ने ही लेख लिखना आरम्भ किया था। इन विषयों को अपनाने का उद्देश्य यह था कि पाठकों की इनमें रुचि हो जाय। इसके लिये उन्हें एक ओर तो सरल से सरल भाषा अपनानी पड़ती थी और दूसरी ओर विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल ढंग से करना पड़ता था; एक एक बात, एक साधारण शिक्षक की तरह अपने विद्यार्थियों को समझाने के लिये, कई बार दोहरानी पड़ती थी। कभी-कभी तो केवल दो-एक शब्द बदलकर ही कई वाक्यों मे उन्होंने एक ही बात समझाई है। पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिये वे ऐसे लेख प्राय: नहीं लिखते थे। अत: संभव है, एक ही बात को बराबर दोहराने से विद्वानों को उनके लेखों से कुछ विरक्ति सी हो जाय; पर साधारण पाठक तो उनकी सरलता और बोधगम्यता पर मुग्ध होता है। इस शैली के उदाहरण उनके प्राय: प्रत्येक लेख में मिल जाते हैं।

(२) हिन्दी सेवा-सम्बन्धी द्विवेदीजी का दूसरा उद्देश्य भाषा और और साहित्य में प्रचलित कुरीतियों को दूर करना, अन्य भाषाओं पर

आलोचनात्मक शैली

लक्ष्य होकर अपनी भाषा की ओर से उदासीन रहने वालों को उनका कर्तव्य समझाना और विरोधियों को मुँह तोड़ जवाब देना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखे गये उनके अधिकांश लेख आलोचनात्मक हैं। सुविधा के लिये उनकी आलोचनात्मक शैली के हम तीन भेद कर सकते हैं—

आदेश पूर्ण शैली

(क) जो लोग भाषा और साहित्य के विषय में मनमानी कर रहे थे, उन्हे उनका कर्तव्य सुझाने के लिये इस शैली में आदेश दिया गया है। उदाहरण के लिये एक छोटा-सा अवतरण देखिये—

लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिये। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना मे संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमेरिका के देशों के अनेक पण्डितों और लेखकों के नाम हों, जिसमें अँगरेजी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेजी ही के अक्षरों में लिखे हों उस रचना को बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परन्तु यह गुण नहीं, दोष है। हिन्दी मे यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिये जिसे केवल हिन्दी जानने वाले भी सहज ही में समझ जायें। संस्कृत और अँगरेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्ददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्देश्य सफल होगा, तभी उसके पढ़ने वालों के ज्ञान और आनन्द की

वृद्धि होगी।

—सरस्वती

इसी प्रकार भूले हुए साहित्यिकों को उन्होंने बार-बार उनका कर्तव्य सुझाया है; एक आदर्श सेनापति और पथ-प्रदर्शक की भाँति उनको उचित मार्ग दिखलाया है। इस शैली पर परिचयात्मक शैली की भी थोड़ी सी छाप है, और उनके आदर्श तथा उद्देश्य की स्पष्ट झलक भी। ऐसी ही आदेशपूर्ण, परिचयात्मक आलोचना-शैली को हम उनकी प्रधान शैली मान सकते हैं।

(ख) आलोचनात्मक शैली का दूसरा रूप प्रेरणात्मक ओजपूर्ण शैली है। जब पूर्वोक्त व्यर्थ सिद्ध होता था तब इसका प्रयोग किया जाता था। इस शैली में कहीं-कहीं अँगरेजी के डाक्टर जानसन और रस्किन की शैली के दर्शन होते हैं। इसका उदाहरण हिन्दी भाषा की शुद्धता और परिष्कार की चेष्टा करने, हिन्दी-साहित्य की उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करने, हिन्दी-भाषा-प्रचार के लिये आन्दोलन करने तथा भारतीयता, राष्ट्रीयता, स्वधर्म और आत्मगौरव के भावों को जाग्रत करने के उद्देश्य से लिखे हुए लेखों में ही प्रायः मिलता है। उदाहरण के लिये देखिये—

ओजपूर्ण शैली

साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों मे भी नहीं पाई जाती। योरुप मे हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ने ही किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है; पतित देशो का पुनुरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस मे प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने, जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने

वाला- उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है, उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशील साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही है और आत्महंता भी है।

—साहित्य की महत्ता (लेख)

ओजपूर्ण शैली का यह सुन्दर नमूना है, साथ ही ऊपर के आदेश पूर्ण शैली के अवतरण से उसका सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। अपना कर्तव्य भूले हुए विद्यार्थियों को जिस प्रकार हमारे गुरुवर शिक्षा देते हैं उसी प्रकार इस अवतरण में भी हिन्दी-जनक अपने विद्यार्थियों सरीखे मातृभाषा हिन्दी की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दे रहे हैं। इसी शैली से उनकी तीसरी शैली का जन्म होता है।

(ग) यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली उक्त ओजपूर्ण शैली से पृथक नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिये उन्हे ओजपूर्ण आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, प्राय: उसी के लिये उन्होंने व्यंग्य और कटाक्ष का प्रयोग भी किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही, साथ ही व्यंग्य या कटाक्ष का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिये —

व्यंग्य या कटाक्ष

कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फारसी और अँगरेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत

नाम किस चिड़िया का है। संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इँगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितने परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएँ सीखते है; फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर ज्ञान-वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञ भी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते; सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं, अँगरेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अन्धकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने चलते हैं।

—सरस्वती

इस अवतरण में हमें उनकी ओजपूर्ण आलोचना शैली के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। उनकी इस शैली के दो प्रधान रूप हैं;

हास्य और विनोद

एक में ओज की प्रधानता है और परोक्ष व्यंग्य की केवल पुट है तथा दूसरे मे व्यंग्य और कटाक्ष प्रधान हैं, ओज की पुट मात्र है। हाँ, परिचयात्मक आदेशपूर्ण शैली दोनों में है। इस प्रकार की व्यंग्यमय और कटाक्षपूर्ण शैली का प्रयोग उन्होने मनोविनोद की दृष्टि से नहीं किया है; विषय और साहित्यिक परिस्थिति उनका सा उद्देश्य रखने वाले व्यक्ति के लिये किसी सीमा तक, मनोविनोद के अनुकूल थी ही नहीं। हाँ, साहित्यिक क्षेत्र से बाहर उन्होंने जिस व्यंग्यशैली को ग्रहण किया है उसमें सरल विनोद और हास्य की स्पष्ट झलक है। इस प्रकार की शैली से विनोद और मनोरंजन होता है और किसी को दुःख भी नहीं पहुंचता। यही सरल हास्य की शिष्टता और विशेषता है। इस शैली में मसखरेपन का पुट रहता है, जिससे हमें उनके सरल स्वभाव और उनकी विनोदप्रियता का पता लगता है। सरस और मनोरंजक व्यंग्य की इस शैली का एक उदाहरण पाठकों

के विनोद के लिये यहाँ दिया जाता है—

इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बापदादों की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिये हुए है कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाएँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं बाबू बख्शीशरण आपके साले साहब ने फी रुपया तीन-चार पंसेरी का भूसा म्युनिसपैलिटी को देने का ठेका ले लिया है। आपका पिछला बिल दस हजार रुपये का था। कूड़ा गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के माँस नजर नहीं आता। सफाई के इन्सपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इन्सपेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। फजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पंडित सत्यसर्वस्व के साले के हाथ वही जमीन हजार पर बेच दी गई।

एक बार उन्होंने सरस्वती में हास्य और व्यंग्य के संबंध में एक नोट लिखा था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

प्रहसनों और हँसी-मजाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता है, इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है हिंदी में साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है।

—सरस्वती १६–१ पृ० ६१

द्विवेदी जी के छोटे-छोटे लेख इस कमी को पूरा करने के लिए तो नहीं, पर समाज को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अवश्य लिखगये थे।

द्विवेदीजी ने जहाँ गंभीर साहित्यिक विषयों का विवेचन किया है, वहाँ हमें आलोचनात्मक या व्यंग्यात्मक शैली की चुलबुलाहट,

गवेषणात्मक शैली

मार्मिकता या चुटीलापन नहीं मिलता। साहित्यिक भाषा में शिष्ट और संयत ढंग से गंभीर और एकाग्रचित होकर लेखक ने ऐसे जो लेख लिखे हैं उनमें हमे उनकी गवेषणात्मक शैली के दर्शन होते हैं। इसके भी दो प्रधान रूप हैं। एक वह है जिसकी भाषा अत्यन्त सरल और साधारण है। इसमें गंभीरता का पुट है और मार्मिकता तथा मसखरेपन का अभाव है। शैली का प्रयोग जन-साधारण को क्लिष्ट या विवादात्मक विषय समझाने के लिये उन्होंने किया है। फलतः भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन प्रणाली सुलझी हुई है। इसका दूसरा रूप वह है जिसमें भाषा विशुद्ध हिंदी है। नीचे इसका एक नमूना 'प्रतिभा' शीर्षक निबंध से दिया जाता है—

अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार का रोग है। उनका संबंध केवल मस्तिष्क और मन से है प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इसमें विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता को अलग करना और प्रत्येक का परिमाण समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसलिए प्रतिभावान पुरुषों में कभी कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है। अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण प्रकार की होती है वैसे प्रतिभावालों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चल कर नए-नए मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लकीर पीटना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

इस अवतरण की भाषा विशेष सरल नहीं है। यहाँ उर्दू के तत्सम ही क्या तद्भव शब्दों का भी प्रयोग बहुत ही कम किया गया

है। साथ ही, गंभीर भाव-व्यंजना में कुछ दुरूहता भी है जिसे द्विवेदीजी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है। शायद यह गूढ़ता और गंभीरता स्वाभाविक ही है। ऊपर की आलोचनात्मक शैली की सरलता देखते हुए इस शैली में कुछ कृत्रिमता भी दिखाई पड़ती है।

द्विवेदीजी सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे। न तो वे प्रचलित संस्कृत शब्दों का विरोध या बहिष्कार करते थे और न अरबी-फारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों भाषा को अपना लेना ही हिंदी-भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों चाहे अरबी-फारसी या अंगरेजी के। यही कारण है कि द्विवेदीजी की भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलाबाजियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी जिसे पढ़ कर और समझ कर पाठक मुदित हो जाता है। वे प्रायः कहा करते थे— संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो 'गृह' लिखा जाय? 'कलम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखी जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? वास्तव में संस्कृत से हिंदी का साधारण आर्थिक संबंध ही उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिन्दी 'मृदुता' के पक्षपाती थे, परन्तु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ' 'श्रेष्ठतर', 'श्रेष्ठतम' और 'सवश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। "नोकदार नाक" के बदले "नोकवती नासा" उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, वे भी अपना लिया करते थे, परन्तु इसके आगे वे नहीं बढ़े।* इसी प्रकार उनकी सम्मति में उर्दू भिन्न भाषा

*द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ—प्रस्तावना

नहीं, अरबी फारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें वे हिंदी ही का समझते थे। उनकी भाषा और भाषा-संबंधी विचारों को समझने के लिए उनके इस कथन से भी सहायता मिल सकती है—

हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सके उन्हें तुरंत ही अपने में मिला लेना चाहिए। मैं जब स्वयं 'सरस्वती' में ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगा तब लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। कितने ही ने यहाँ तक इलजाम लगाया कि मैं भाषा को नष्ट कर रहा हूँ। परन्तु, सत्य, सत्य ही है। अब लोग आप से आप समझ गए। —सरस्वती

भाषा-संबंधी उद्देश्य

द्विवेदी जी एक ओर तो हिंदी-भाषा को ऐसा सरलतम रूप देना चाहते थे जिसे समझने वाले भारत के प्रायः सभी प्रांतों में रहते हैं और दूसरी ओर उनका यह विचार था कि यदि एक भाषा का सर्वत्र प्रचार हो जायगा तो देश में राष्ट्रीयता या जातीयता की भावना की उत्पत्ति सरलता से हो जायगी। उनका तीसरा उद्देश्य यह था कि ऐसा करने से हिंदी भाषा में गंभीर और गूढ़ से गूढ़ विषयों को सरल भाषा में व्यक्त करने की क्षमता आ जायगी। वे हिंदी-संसार को यह सुना देना चाहते थे कि हिंदी-भाषा को अभिव्यंजन-शक्ति किसी स्वतंत्र भाषा से कम नहीं है और उसमें जो कमी है भी, वह प्रचलित शब्द ग्रहण करने से शीघ्र ही दूर की जा सकती है कालांतर में, द्विवेदीजी की प्रायः सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं; और उनकी सेवा का लोग महत्व भी समझ गए। 'द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ' भेंट करके हमने उनका ऋण स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया है। आज सभी द्विवेदी जी को हिंदी भाषा के विशाल और विस्तृत प्रसाद की नींव डालने वाला समझते हैं*।

---

*द्विवेदी के जी विषय मे विशेष रूप से जानने के लिए लेखक की 'द्विवेदी मीमांसा' नाम की पुस्तक देखें।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

(सन् १८७५—१९४५)

मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास।
सौम्य, शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास॥

—द्विवेदीजी।

बाबू जी का जन्म सन् १८७५ में बनारस में बाबू देवीदास खन्ना के घर हुआ था। हिन्दी के प्रति प्रेम आपको अपने विद्यार्थी जीवन से ही था और इन्टरमिडिएट पास करने के बाद

परिचय

ही अपने कुछ मित्रों की सहायता से आपने काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी। बी० ए० पास करने के बाद कुछ समय तक सेन्ट्रल हिन्दू कालेज बनारस में आप अँगरेजी के अध्यापक रहे। इसके पश्चात् कुछ वर्ष तक इरिगेशन डिपार्टमेंट, शिमला और महाराजा काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर में काम किया। तत्पश्चात् कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ में हेडमास्टर होकर आए और कई वर्ष तक काम करते रहे। यहाँ से काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में चले गए, और कई वर्ष तक हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। सन् १९३९ में आपने यहाँ
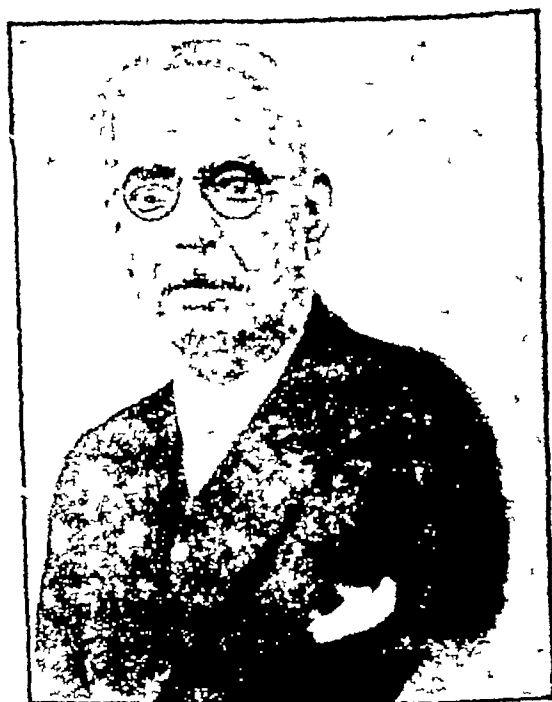
[डाक्टर श्यामसुन्दर दास]

से भी छुट्टी ले ली। लगभग पाँच वर्ष विश्राम करने के पश्चात् अगस्त १९४५ में उनका स्वर्गवास हो गया।

हिन्दी-सेवा—काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना

हिन्दी पर बाबूजी का बड़ा ऋण है। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना करना है। हिन्दी की उन्नति के लिए जितना प्रयत्न इस सभा ने किया है उतना शायद किसी भी दूसरी संस्था ने नहीं किया और 'इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबूजी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है।'

प्राचीन ग्रन्थों की खोज उनका प्रकाशन

बाबूजी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य, नागरी-प्रचारिणी-सभा के सदस्यों के योग से, प्राचीन हिन्दी-कवियों के ग्रन्थों की खोज और उनका प्रकाशन है। इससे हिन्दी-साहित्य का महत्त्व तो बढ़ा ही; साथ ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिए सामिग्री भी प्रस्तुत हुई जिससे साहित्य का इतिहास तैयार हो सका है।

कोषों का संपादन-प्रकाशन

तीसरा महत्वपूर्ण कार्य वर्षों के प्रयत्न के बाद 'हिन्दी-शब्द-सागर' और 'हिन्दी वैज्ञानिक कोष' (१९०६) का निर्माण कराना है। इस कार्य में इन्हें अन्य विद्वानों से भी बड़ी सहायता मिली।

उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण

चौथा कार्य 'भाषा-विज्ञान और साहित्यालोचन' आदि विषयों पर पुस्तकें लिखना है। कई महानुभावों के—जिनमें बाबूजी भी थे, सहयोग से विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश हो चुका था; पर बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए भाषा-विज्ञान और आलोचना-संबंधी पुस्तकें थी ही नहीं—अँगरेजी भाषा में लिखे ग्रन्थों की सहायता से इन विद्यार्थियों को अपना काम चलाना

पड़ता था। अतः सबसे पहले बाबूजी ने ही इन विषयों पर पुस्तकें लिखीं जो आज भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। ये विषय अत्यंत गूढ़ और गम्भीर थे। पर, हिन्दी उस समय या तो अनुवाद करने की भाषा रह गई थी या केवल कथा कहानी लिखने योग्य। बाबूजी ने हिन्दी-भाषा को इस योग्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया कि गंभीर विषयों का भली भाँति प्रतिपादन इसमें हो सके।

यों जीवनभर बाबूजी हिन्दी की सेवा करते रहे हैं। वास्तव में हिन्दी को साहित्यिक रूप देने और हिन्दी-साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा पुनरुत्थान-कार्य करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को है।

सम्मान

आपकी सेवाओं का सम्मान और आपका ऋण स्वीकार करने के लिए, 'हिन्दी शब्द-सागर' के निर्माण के उपलक्ष में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको 'कोशोत्सवस्मारक-संग्रह' समर्पित किया था। पश्चात्, हिन्दी विश्व-विद्यालय काशी ने डी० लिट्० की उपाधि इन्हें प्रदान करके अपने कर्तव्य का पालन किया।

ग्रन्थ

मौलिक—'हिन्दी-भाषा और साहित्य', 'रूपक रहस्य', 'साहित्यालोचन', 'भाषा-विज्ञान', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'भारतेंदु हरिश्चन्द्र।'

संपादित—'हिन्दी शब्द-सागर', 'वैज्ञानिक कोष', 'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' (दो भाग), 'मनोरंजन पुस्तकमाला' (अनेक भाग)।

इनके अतिरिक्त अनेक प्राचीन कवियों के काव्यों का संकलन और संपादन भी बाबूजी ने किया। इन संपादित पुस्तकों के महत्व की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। मौलिक पुस्तक में, 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'भाषा विज्ञान' का विषय तो स्पष्ट है। 'रूपक-रहस्य' में नाटकों की उत्पत्ति, लक्षण, भेद आदि पर प्रकाश डाला गया है। अन्तिम दोनों पुस्तकें आलोचनात्मक हैं; तुलसीदास पर तो कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गई हैं, पर भारतेंदुजी पर इस ढंग की आलोचनात्मक पुस्तकें अधिक नहीं हैं। 'साहित्यालोचन' नामक

पुस्तक विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। इसमें आलोचना संबंधी प्राच्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तो का विवेचनात्मक समन्वय है।

विषय

मौलिक ग्रन्थों के शीर्षक देखने से ही हमें आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति का पता लग जाता है कि आपने 'भाषा-विज्ञान' और साहित्या-लोचन' जैसे गूढ़, गंभीर और मननशील विषयों पर ही अधिकतर लिखा है। अपने लिये ये विषय—या क्षेत्र—बाबूजी ने बहुत पहले ही चुने थे। और नागरी प्रचा-रिणी-पत्रिका मे आरंभ मे ही, इन पर कई लेख लिखे थे। दूसरी बात इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखने योग्य है कि साहित्य के साधारण विद्यार्थियों को यह विषय समझाना ही बाबूजी का उद्देश्य रहा है।

शैली के रूप

'भाषा विज्ञान' जैसे गूढ़ और दुरूह विषयो के संबंध में बाबूजी ने लिखा है—जो विषय जटिल और दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। तथा सरल और सुबोध विषयो के लिए वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे विशेष हानि नहीं होती। यह कथन बाबूजी की शैली के लिए बिलकुल ठीक है और गंभीर तथा सरल दोनों प्रकार के विषयों पर लिखते समय उन्होंने इसका पूरा ध्यान रखा है। उनकी साहित्यिक शैली निजी विशेषता रखती है। उसमें यद्यपि किसी प्रकार की चुलबुलाहट, व्यंग्य या कटाक्ष का पुट, जो शैली को विशेष रोचक बना देता है नहीं है, तथापि छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त उनकी शैली मे जो गम्भीर गुरुत्व है वह उनके आचार्यपद के सर्वथा उपयुक्त है।

विचारात्मक शैली

बाबूजी ने प्रायः विचारात्मक या भावात्मक तथा गवेषणात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। इनके अनुसार ही उनकी शैली मुख्यतः दो प्रकार की है। इनमे गम्भीरता और गुरुत्व—जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है—प्रायः समान रूप से वर्तमान हैं, हाँ, विषय के फल-स्वरूप यथाअवसर उसमें परिवर्तन होगया है। परन्तु आपकी शैली

विचारात्मक निबन्धों के ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। उनकी इस शैली का उदाहरण यह है—

यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्गत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी सम्भव है जब परस्पर विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। पर यहीं उनके सम्बन्ध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

—साहित्य और समाज

आलोचना

बाबूजी की शैली का यह सुन्दर नमूना है। भाषा के साहित्यिक रूप के साथ-साथ, विचारों को स्पष्ट करके समझाते हुए इन छोटे-छोटे वाक्यों में सुन्दर प्रभाव मिलता है। संस्कृत के शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग यहाँ अवश्य किया गया है, परन्तु भावों को समझने के लिए यहाँ भाषा की कड़ियाँ नहीं तोड़नी पड़तीं। भाषा की तत्समता के विषय में भी कहा जा सकता है, कि 'गम्भीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।' एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उर्दू के शब्दों का बहुत ही कम प्रयोग इस अवतरण में किया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि वे उर्दू शब्दों का बहिष्कार करने के पक्ष में हैं, प्रत्युत यह उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति और विषय की गम्भीरता का परिणाम है।

बाबूजी के गवेषणात्मक निबंधों की शैली इससे कुछ भिन्न है।

उसमें भाषा का संस्कृत रूप और उर्दू शब्दों का न्यूनतम प्रयोग तो इसी प्रकार किया गया है लेकिन इसमें विशेष प्रवाह नहीं, प्रत्युत रूखापन हैं। जिसका कारण विषय की शुष्कता है। 'भाषा-विज्ञान' में ऐसे अनेक अवतरण हैं।

गवेषणात्मक शैली

बाबूजी की शैली की एक विशेषता और है। काव्योपम शृङ्गार या सजावट उनकी शैली में नहीं है। हाँ, विषय को स्पष्ट करने के लिए रूपक आदि का सहारा उन्होंने अवश्य लिया है। आरम्भ में वे शिक्षक रहे हैं। अतः विषय को पूर्ण रूप से स्पष्ट करके विद्यार्थियों को समझा देना उनका स्वभाव ही रहा है। 'जैसे' का बार-बार प्रयोग करके, स्थान-स्थान पर उदाहरण देकर वे अपने विषय की विवेचना करते हुए पाठकों को समझाते हैं और अन्त में 'सारांश यह है' या 'संक्षेप में' आदि कह कर उन्होंने अपने कथन का निष्कर्ष कुछ शब्दों में रख दिया है। उदाहरण के लिए—

हिंदी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न कालों में विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे-टीलों और पहाड़ियों के बीच मे पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का सम्बन्ध करा देती हैं, कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मन्दगति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों

से होकर बहती है वैसे ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है।

—साहित्यालोचन (पृष्ठ ५१)

बाबूजी ने यहाँ एक विवादग्रस्त विषय को अत्यंत सरल ढंग से समझा दिया है। 'रूपक', 'उदाहरण' (जैसे) और 'सारांश यह कि' सभी बातें ऊपर के अवतरण मे आगई है।

बाबूजी की शैली में मुहावरों और कहावतो का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। गद्य में मुहाविरों का प्रयोग न होना कहीं-कहीं पर खटकता है। इस अभाव का कारण, किसी सीमा तक तो बाबूजी की गम्भीर प्रकृति ही है, पर कहीं कहीं विषय की दुरूहता भी।

गम्भीर विषयो पर लिखने के कारण और कुछ कुछ संस्कृत की तत्समता प्रियता के फल-स्वरूप भी बाबूजी की भाषा गंभीर और शुद्ध साहित्यिक हो गई है। इसे भाषा का दोष कदापि नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाषा प्रायः विषय और प्रवृत्ति के अनुकूल ही हुआ करती है। दो-एक अपवाद स्वरूप स्थलों को छोड़कर बाबूजीने सर्वत्र ऐसी सुन्दर साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है कि उसकी गम्भीरता भी सरस जान पड़ती है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ-साथ तद्भवों की भी प्रचुरता रहती है। ऐसी भाषा का उदाहरण देखिए—

भाषा साहित्यिक रूप

यूरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और, अन्त में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुला कर उसी को महत्ता स्वीकृत करने के लिए बाध्य करता है। भारतवर्ष मे भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अँगरेजों के पैर यहाँ जम गये तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिता हुई।

—भारतेन्दु-ग्रन्थावली की भूमिका

उनकी भाषा का दूसरा रूप हमे उन निबन्धों में मिलता है जो

भाषा का दूसरा रूप

साधारण पाठकों को समझाने के लिए लिखे गए हैं। प्रसाद गुण इस प्रकार की भाषा में प्रधान है। प्रचलित शब्दों का बाहूल्य इस रूप की विशेषता है। इसका नमूना—

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान बनना चाहते हैं जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडम्बर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखो मे झूठा और नीचा गिना जाता है।

—कर्तव्य और सत्यता (मनोरंजक पुस्कमाला)

बाबूजी के ग्रन्थों तथा निबन्धों में प्रायः इन्हीं दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। पहले में हिन्दी भाषा का साहित्यिक रूप है और दूसरे में, प्रचलित भाषा का सरल रूप जिसमें लेखक गम्भीरता पूर्वक विचार करता नहीं जान पड़ता, वरन् एक सत्य को सरल और सहज ढंग से व्यक्त करता है। वास्तव में, उनकी भाषा का प्रतिनिधि स्वरूप नमूना ऊपर दिया हुआ पहला अवतरण ही है जिसमें उनकी प्रकृति के अनुकूल विषय की विवेचना की गई है। इसका एक और उदाहरण 'गोस्वामीजी की का काव्य-सौन्दर्य' शीर्षक उनके एक लेख से यहाँ दिया जाता है—

सच्ची सजीव कविता के लिए यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जायँ। जब कवि की सब भावनाएँ एक मुख होकर जागृत हो उठती हैं। तब कवि का हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप मे प्रकट होने लगता हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए न कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी रुकावट ही उसे रोक सकती है।

—कल्याण (१३-२ पृ० ६३८ का० १)

संस्कृत शब्दों के पश्चात् उर्दू शब्दों का प्रयोग करने का प्रश्न आता है। बाबूजी ने इन्हें स्वतन्त्रता से अपनाया है। परन्तु इनका प्रयोग केवल इन्हें अपनाने के लिए नहीं किया गया है, प्रत्युत, जान पड़ता है, लेखक की कलम से ये शब्द स्वतः ही निकल पड़े हैं और लेखक ने उनको बिना किसी हिचकिचाहट के अपना लिया है क्योंकि वे लेखक के भावों को स्पष्ट करने मे सहायक हुए हैं। यही कारण है कि यद्यपि दिल, कैदी, तूफान, दबाव, दिखावा, खाली आदि उर्दू के शब्द उनकी रचनाओं और संपादित पुस्तकों में यत्रतत्र मिलते हैं तथापि उनका प्रयोग संस्कृत शब्दों के बीच में इस प्रकार किया गया है कि ये खटकते बिलकुल नहीं। इसका रहस्य वे ही महानुभाव समझ सकते हैं जो संस्कृत के विद्यार्थियों को समझाने के लिए कभी-कभी अरबी-फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग, बिना स्वयं जाने-बूझे कर जाते हैं।

विदेशी भाषाओं के शब्द; उनका रूप

शब्दों के तत्सम रूप की अपेक्षा बाबूजी ने तद्भव रूप का ही व्यवहार किया है। इस सम्बन्ध में उनका आदर्श था कि विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपना कर हम हिन्दी को खूब व्यापक बनाले। उन्होंने स्वयं ही लिखा है—

जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसे बनालें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर, हमारे व्याकरण के नियमो से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्ण उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार प्रकार को स्थायी बनाये रहेगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमे उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।

अपना यह सिद्धांत उन्होने संस्कृत शब्दों पर भी लगाया और अरबी-फारसी के उर्दू भाषा में प्रचलितशब्दों पर भी। संस्कृत में एक ओर तो उन्होंने

तत्सम शब्दों का रूप

'कार्य्य', धर्म्म', 'सौंदर्य्य' आदि शब्दों के अन्तिम ड्योढ़े अक्षर को हटा कर कार्य, धर्म, सौंदर्य, लिखने-लिखाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर 'सङ्ग्रह,' 'अञ्जन,' 'घण्टा,' 'फन्दा,' 'सम्पत्ति' आदि शब्दों का पंचम वर्ण उड़ाकर अनुस्वार से काम लेना शुरू किया। यहाँ तक कि द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में भी, जो उन्होंने संस्कृत व्याकरण के कट्टर पक्षपाती को सादर भेंट किया था, अनुस्वार का ही प्रयोग किया गया है।

उर्दू के क़लम, क़ानून, क़वायद, तूफ़ान आदि शब्दों के नीचे की बिन्दी उड़ाकर और उनका उच्चारण बदल कर उन्हें बाबूजी ने हिन्दी भाषा में मिला लिया है। जिन प्रांतों में उर्दू अधिक बोली जाती है, वहाँ तो यह परिवर्तन खटकता है पर अन्य में नहीं हमारे बालक जो आगे चलकर हिन्दी पढ़ेंगे उन्हें यह बात नहीं खटकेगी। हिंदी का शब्द भंडार बढ़ाने का यह गुर वस्तुतः बड़े महत्व का है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल

(सन् १८८४–१९४१)

परिचय

शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ में बस्ती जिला के आगोना गाँव हुआ था। बाल्यकाल में आपने संस्कृत की शिक्षा पाई। सन् १९०१ में एन्ट्रेंस की, और दो तीन वर्ष बाद एफ० ए० की परीक्षा में सफल होकर सन् १९०६ में आपने क़ानून की परीक्षा दी, पर विफल रहे। तब आप मिशन स्कूल, मिर्जापुर में अध्यापक हो गए। बहुत दिन पहले भारतेन्दु के समकालीन पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा संपादित 'आनंद कादम्बिनी' में आपने लेख लिखे थे और इसके बाद 'सरस्वती' में। हिन्दी संसार इसी समय से आपकी विद्वता से परिचित हो गया था। फलतः सन् १९०८ में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा में आप हिन्दी शब्दसागर के सहकारी सम्पादक बनाए गए। ८–९ वर्ष तक आपने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का संपादन भी किया। इसके पश्चात् काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय में आप हिन्दी के प्रोफेसर हो गए और कुछ समय तक वहाँ हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भी रहे। सन् १९४१ में आपका स्वर्गवास हो गया।
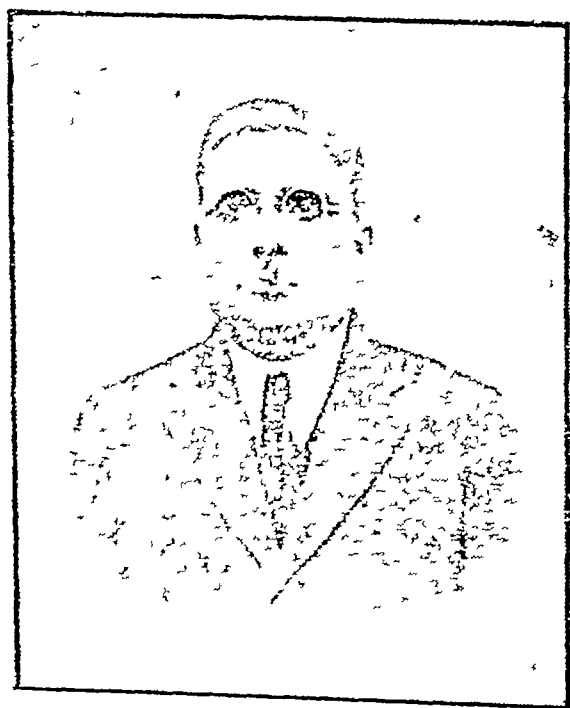
[पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी-सेवा

शुक्लजी हिन्दी के अत्यन्त गम्भीर और विचारशील लेखक थे। उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता उनकी मौलिकता है। गम्भीर अध्ययन और मनन के पश्चात् ही उन्होंने लिखा था। अँगरेजी और संस्कृत साहित्य का उन्होंने तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया था। इसीसे उनकी गम्भीर रचनाओं का विद्यार्थी समाज और साहित्य-सेवियों मे बड़ा आदर है। उनकी हिन्दी-सेवा कई रूपों में दिखाइ देती है—

साहित्यिक लेख

शुक्लजी ने क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा आदि मनोविकारों पर विश्लेषणात्मक और कविता, उपन्यास आदि विषयों पर साहित्यिक लेख लिखे हैं। पहले प्रकार के लेखों में मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है और दूसरे प्रकार के लेख साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। मौलिकता इन निबन्धों की दूसरी विशेषता है। हिन्दी-साहित्य में इनके पहले भी ऐसे लेख बहुत कम लिखे गये थे और इस समय भी अधिक नहीं लिखे गये है। इन लेखो के महत्व का तीसरा कारण यही है।

समालोचनाएँ

शुक्लजी के आदर का प्रधान कारण उनकी समालोचनाएँ हैं। इन्होंने एक प्रकार से समालोचना क्षेत्र में युगांतर उपस्थित किया है और समालोचकों के सामने एक नवीन आदर्श रक्खा। इनके पहले जो लोग अँगरेजी-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र मे आते थे उनका आदर्श अँगरेजी आलोचको के विचारों का अनुवाद मात्र कर देना था। कुछ लोग तो इनसे भी आगे बढ़ गए; वे अङ्गरेजी कवियों और लेखकों के विषय मे लिखी हुई मनोहर उक्तियों और विचारों को वैसे ही हिन्दी-कवियों और लेखकों के विषय मे लिखने लगे। ऐसी आलोचनाओं में मौलिकता या अध्ययन का तो अभाव था ही, साथ ही आलोचना-सम्बन्धी भारतीय आदर्श के प्रति एक प्रकार की उदासीनता भी थी जो हिन्दी के लिए अहितकर थी। शुक्लजी ने इन

दोनों दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने संस्कृत और अँग-रेजी के आलोचना-साहित्य का अध्ययन करके, दोनों के सुन्दर समन्वय द्वारा, एक नवीन आदर्श हिन्दी-साहित्य-समीक्षकों के सामने रक्खा और इस प्रकार भावी आलोचकों के लिये वे पथ-प्रदर्शक बने। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी हुई उनकी आलोचनाएँ उच्चकोटि की हैं। उनके पहले, हिन्दी में, गम्भीर और मननशील समीक्षा-साहित्य का जो अभाव था, उसकी पूर्ति करने का शुक्ल जी ने सफल प्रयत्न किया।

विद्वत्ता और योग्यता

आज से लगभग ३५ वर्ष पहले शुक्ल जी 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सहायक संपादक बनाये गये थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी लोग उनकी विद्वत्ता को आदर की दृष्टि से देखते थे। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के प्रधान सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास जी थे। उन्होंने इस महान् ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—'हिन्दी-शब्द-सागर' को वर्तमान रूप देने का अधिकांश श्रेय शुक्ल जी को ही है।

कविता

कई फुटकर कविताओं के साथ-साथ शुक्ल जी ने 'बुद्ध चरित' नामक एक काव्य की रचना भी की। इनकी रचनाएँ साधारणतः भाव-पूर्ण, सुन्दर और सरस हैं। पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्रीधर पाठक ने प्रकृति-सम्बन्धी कुछ कविताएँ की थीं; परन्तु चमत्कारपूर्ण और आलंकारिक होते हुए भी वह प्रकृति का सीधा-सादा वर्णन मात्र है। उसमें मानव हृदय की तल्लीनता और तादात्म्यता का प्रायः अभाव है। हिन्दी-कविता में प्रकृति वर्णन-सम्बन्धी इसी अभाव की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा था—

कविता वह हाथ उठाये हुए,
चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ।

—आमंत्रण

हिन्दी-कवि आज प्रकृति की ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सहृदय दृष्टि से

देख रहे हैं। कौन जानता है, इस परिवर्तन के अनेक कारण में यह पंक्ति भी एक हो!

साहित्य का इतिहास

आलोचना के साथ-साथ शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा। इस विषय पर आज अनेक पुस्तकें हैं; परन्तु शुक्लजी का इतिहास सबसे अनूठा है। इसकी रचना उन्होंने खोज में प्राप्त सामग्री के आधार पर की थी। हिन्दी में सबसे पहले यही ग्रन्थ संगठित और क्रमबद्ध साहित्य के इतिहास के रूप में पाठकों के आगे आया था। इसके उपरांत बने हुए सभी इतिहास ग्रन्थों के लिए शुक्लजी के इतिहास ने मार्ग-निर्देशक का काम किया है। इस ग्रन्थ पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग ने ५००) का पुरस्कार भी दिया है।

ग्रन्थ

मौलिक—जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी गम्भीर समालोचनाएँ, 'काव्य में रहस्यवाद' (यह गवेषणात्मक पुस्तक हिन्दी में छायावाद-सम्बन्धी बढ़ती हुई उच्छृंखलता को नियन्त्रित करने के लिये लिखी गई थी); मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों का संग्रह 'विचार वीथी' जो अब 'चिंतामणि के नाम से प्रकाशित हुआ है और जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का पुरस्कार दिया है, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास।'

इनके अतिरिक्त, समय-समय पर आप अँगरेजी पत्रों में भी साहित्यिक लेख लिखा करते थे।

अनुवादित—'विश्व प्रपंच', 'कल्पना का आनन्द', 'राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा', 'मैगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण', इत्यादि ग्रन्थों का अंगरेजी भाषा से अनुवाद किया तथा 'शशांक' नामक एक उपन्यास का बँगला से।

काव्य—'बुद्धचरित' 'लाइट आव एशिया' नामक अँगरेजी पुस्तक का अनुवाद तथा फुटकर कविताएँ।

शुक्लजी के मौलिक गद्य-ग्रन्थ मुख्यत: तीन प्रकार के हैं—(१) आलोचनात्मक लेख (२) गवेषणात्मक निबन्ध (३) मनोविकार-

सम्बन्धी भावात्मक लेख। अनुवादित ग्रन्थों से उनकी विषय रुचि का पता नहीं लगता। कारण यह है कि अनुवाद-कार्य में शुक्लजी ने विशेष उद्देश्य से हाथ लगाया था और यह बात विभिन्न विषयों की दो-दो एक-एक पुस्तकों के अनुवादित से स्पष्ट है।

सुप्रसिद्ध आलोचक बफन ने एक बार कहा था—स्टाइल इज दि मैन। इसका भाव यह है कि शैली से हमें लेखक के व्यक्तित्व के विषय में बहुत कुछ मालूम हो सकता है। बफन का यह कथन शैली हिन्दी लेखको में शुक्लजी के लिये जितना सत्य है उतना शायद किसी अन्य लेखक के लिये नहीं। शुक्लजी का हृदय कवि था, मस्तिष्क आलोचक था, तथा जीवन एक अध्यापक था। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्झर-युक्त-भूधर कह सकते थे, जिसमें एक ओर मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता थी तो दूसरी तरफ हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता। ये दोनो बातें ही सत्य हैं; उनके गद्य में तो हम उनके मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता देखते हैं और कविता में, किसी सीमा तक, स्रोतस्विनी भावुकता। गम्भीर व्यक्तित्व और आलोचनात्मक विषय के कारण शुक्लजी की शैली के मुख्य तीन रूप हैं, (१) गहन समीक्षाशैली, (२) गवेषणात्मक शैलो और (३) भावात्मक शैली।

शुक्लजी एक प्रकार से, आलोचनात्मक शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। उनको आलोचना शैली गम्भीर, संयत और मार्मिक है। वाक्य प्रायः छोटे छोटे हैं। विषय का स्पष्टीकरण गहन समीक्षा-शैली शिष्ट और सयत ढंग से किया गया है लेखक के विचारों को समझने के लिये विशेप प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस शैली का एक उदाहरण—

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डाल कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल

सकता है ? जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं ? इस क्षेत्र में कवि जो सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दांपत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दावली द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों मे इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरन्त बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साह-पूर्ण जीवन देखते हैं, जिसके भीतर आत्मावलम्बन का विकास होता है। फिर आचार्य विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दांपत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरांत अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदन्तर पथिक, वेषधारी राम जानकी के साथ-साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री पुरुषों के उस विशुद्ध सात्विक प्रेम का अनुभव करते है जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि का कोई विशेषण नहीं दे सकते पर जो मनुष्य मात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमार राजबधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करते पाकर वे 'वीरभोग्या वसुंधरा' की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीता-हरण या विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य देखक पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और बीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांतरस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्य-रस का पूर्ण समावेश रामचरित-मानस के भीतर न

करके नारद मोह के प्रसंग मे उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझने वाले, मानव-जीवन के सुख और दुख, दोनो पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामीजी के महत्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल वहिरंग दृष्टि रखने वाले भी, लक्षण ग्रंथों मे गिनाए हुए नवरसो और अलंकारों पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

—गोस्वामी तुलसीदास (भावुकता पृ० ६३-४)

ऊपर का अवतरण शुक्लजी की आलोचनात्मक-शैली का सुंदर नमूना है। छोटे-छोटे वाक्य में उन्होंने 'कवि और भावुकता' जैसे गूढ़ विषय को संपूर्ण रामचरित के उदाहरण देकर समझा दिया कि तुलसी ने राम के जीवन के सभी मार्मिक स्थलों को पहचाना है और उनका सुंदर वर्णन किया है। शुक्लजी की इस शैली की मार्मिकता अपनी निजी विशेषता है। इस शैली का दूसरा रूप वह है जहाँ लेखक अनुचित प्रसंगों से क्षुब्ध होकर व्यंग्य का आश्रय लेता है। ऐसे स्थलो पर वे अत्यंत शिष्ट ढंग से परन्तु क्षुब्ध होकर व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए—

आलोचनात्मक शैली में व्यंग्य का मिश्रण

हम नहीं समझते कि बिना हिंदी वालों की खोपड़ी को एक-दम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थ शून्य वाक्य छायावाद के संबंध मे कैसे कहे जा सकते हैं कि 'यह नवीन जागृति का चिह्न है; देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है, इत्यादि, इत्यादि भला देश की नई 'जागृति' से, देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या संबंध? क्या हिंदी के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिल्कुल टूट गया है? क्या शब्द की गर्द भरी आँधी विलायत के कला क्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिंदी वालों की आँख खोलना मुश्किल करेगी?

ऊपर दिए हुए दोनो अवतरण समीक्षा-शैली के ही हैं; परन्तु दोनों

की शब्द-योजना और वाक्यों में अन्तर है। कारण यह है कि पहला विषय शुक्लजी को प्रिय है, उनके आदर्श के अनुकूल है। इसी से मुग्ध और मुदित-से होकर वे कवि की आलोचना कर रहे हैं। दूसरे विषय के आदर्श से वे सहमत नहीं हैं; हिंदी का ऐसे अनर्गल प्रलापो से, उनकी सम्मति में जान पड़ता है, अहित होने की संभावना है। इसी से मार्मिक व्यंग्य की चोट करते-करते वे क्षुब्ध हो उठे हैं।

आलोचनात्मक शैली से गवेषणात्मक शैली का रूप कुछ अधिक दुरूहता और गंभीरता लिए हुए है। उनको शुद्ध आलोचना-शैली में
ही व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कम हुआ है
गवेपणात्मक-शैली तब गंभीर गवेषणा मे प्रवृत्त होने पर तो उसके
लिए स्थान ही नहीं था। इस प्रकार की शैली
हमें ऐसे स्थलों पर मिलती है जहाँ 'शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के दिग्दर्शन एवं प्रतिपादन' की आवश्यकता पड़ी है। इसका उदाहरण—

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय है। कला-पक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगल है। जिस समान काव्यभूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक-सौंदर्य की चर्चा बचा कर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टाल्सटॉय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचान कर काव्य-क्षेत्र में लोक मंगल का एकान्त उद्देश्य रख कर चले। इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में

प्रेम और भ्रातृ-भाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टाल्सटॉय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।

ऊपर दिए हुए शुद्ध आलोचना शैली के उदाहरण और इस गवेषणात्मक अवतरण के वाक्य-विन्यास में विशेष अन्तर नहीं, केवल शब्द-योजना में ही थोड़ा अंतर है। उदाहरण देकर शुक्ल जी ने यहाँ भी अपने कथन को स्पष्ट करने की चेष्टा की है और वहाँ भी। इसलिए यदि ध्यान से देखा जाय तो हमें जान पड़ेगा कि उनकी शुद्ध आलोचना शैली के मुख्य दो प्रकार हैं; एक में मार्मिक आलोचना प्रधान है और दूसरे में गवेषणात्मक विवेचना। इन दोनों के उदाहरण दिए जा चुके हैं।

मनोविकारों पर लेख लिखने का प्रयास सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही किया है। इनके लिए उन्होंने जिस शैली को अपनाया, वह उनकी साहित्यिक-शैली से कुछ भिन्न है। इसमें वाक्य वैसे ही छोटे-छोटे हैं जिससे विषय सुबोध और बोधगम्य हो जाता है। शब्द-योजना में भी विशेष अन्तर नहीं है, परन्तु विषय की स्वच्छंदता के कारण भाषा के जिस प्रचलित और व्यावहारिक रूप को यहाँ अपनाया गया है उससे भाव व्यंजना में जो प्रवाह परिलक्षित होता है वह इस शैली की विशेषता है। इनके निबंधों मे, विचार-शक्ति का अच्छा संगठन रहता है; अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है, तब उसमें आंतरिक और वाह्य भाव-यंजना मे एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे-धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में मे यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भाव-माला अस्त-व्यस्त हो जायगी, इस शैली

भावात्मक शैली

के भी दो मुख्य भेद किए जा सकते हैं। जब वे मनोविकारों की व्याख्या करते हैं तब हमें उनकी व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जिसमें साहित्यिक-शैली की सी गंभीरता है। इसका उदाहरण—

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उनके सम्बन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयेगा। उसके सब काम निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख की स्थापना और दुख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उससे भिन्न प्राणी ससार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुख की निवृत्त हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अन्तःकरण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है; पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्म भाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। दूसरी बात यह कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

—विचार बीथी (करुणा, पृ० ५३)

ऊपर के व्याख्यात्मक अवतरण और पहिले दिये हुए गवेषणात्मक शैली के अवतरण की शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। परन्तु विचार के स्पष्टीकरण के लिए ऐसी गठी हुई प्रवाहपूर्ण शैली से दर्शन वहाँ नहीं होते। इस भावात्मक शैली का दूसरा रूप वह है जहाँ विषय की व्याख्या—विवेचना या

भावात्मक शैली का दूसरा रूप

गवेषणा नहीं—अत्यंत सरल ढंग से उदाहरण देकर की गई है। ऐसे स्थलों को पढ़कर हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी होने लगती है। इसका उदाहरण—

इनमें से प्रथम (प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा) प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोध-ग्रस्त होती है, इससे उस समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या ? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जायँगे। दूसरे के लोभ की निन्दा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं; एक कहता है वह बड़ा लोभी है; देता नहीं। दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है बराबर माँगा करता है।'

—विचार वीथी (लोभ और प्रीति, पृ० ५२

भावात्मक शैली के दोनों व्याख्यात्मक अवतरणों मे जो अंतर है वह बिल्कुल स्पष्ट है।

शुक्ल जी के गद्य में गंभीर विवेचना के साथ,साथ मीठी-मीठी चुटकियाँ भी मिलती हैं जिनका प्रभाव व्यंग्योक्तियों से कम नहीं पड़ता। मुहावरों का प्रयोग उन्होंने अधिक नहीं किया है, गम्भीर आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक निबन्धों में तो 'नहीं' के बराबर ही मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु शिष्ट और मार्मिक परिहास के साथ-साथ इनका प्रयोग अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है। इसके दो,एक उदाहरण—

हास्य का पुट

(१) हवा से खेलने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतो ने होंगी। चाहे उनकी जिंदादिली की कद्र न की हो।

(२) एक कविजी ने कहा है—

काजर दे नहिं, ए री सुहागिन,
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए हँसिया, छुरी आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।

(३) बिहारी की नायिका जब साँस लेती है, तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडलम की सी दशा उसकी रहती है।

इस प्रकार के हास-परिहास के योग से भी गंभीर विषय भी थोड़ा-बहुत रोचक हो जाता है।

शुक्लजी हिन्दी-भाषा की स्वतन्त्र अभिव्यंजन-शक्ति के पक्षपाती थे; उनका प्रयत्न प्रायः यही रहा कि हिन्दी भाषा को सभी विषयों की व्याख्या के योग्य बना दिया जाय। साथ ही, वे गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। इन दोनों ही बातों का शुक्लजी की भाषा पर प्रभाव पड़ा है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत और प्रौढ़ है जिस पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। कई लेखकों की भाषा के बीच से उनकी भाषा पहिचानी जा सकती है, यही इसकी विशेषता है। शब्दों का प्रयोग भी शुक्लजी ने बड़ी सावधानी से किया है; 'भरती' का एक शब्द भी इनके निबंधों मे नहीं मिलता।

भाषा

शुक्लजी विशुद्धता के पक्षपाती थे। संस्कृत शब्द उनकी हिन्दी में अधिकतर मिलते हैं। गम्भीर विषयों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करते समय उनकी भाषा ठेठ हो जाती है। यह बात स्वाभाविक ही है, किसी प्रकार के पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं। ऐसी विशुद्ध भाषा उन्होंने प्रायः गम्भीर, आलोचनात्मक लेखों में ही लिखी है। उदाहरण के लिए—

जीवन के अनेक मर्म-पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय-समय पर जगती रहती है, उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे

सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसी स्वाभाविक रूप मे व्यंजना भी हो सकती है, जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अलग भावना से हटा कर, निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके जगत के वास्तविक दृश्यों, जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता है, वही सच्चा कवि हृदय है।

आलोचनाओं की भाषा

आलोचनात्मक लेखों के लिए प्रायः सर्वत्र शुक्लजी ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। इस आलोचनात्मक भाषा के जन्मदाता भी वास्तव में वे ही कहे जाते हैं। ऐसी प्रौढ़ और सबल भाषा आलोचना-साहित्य के लिए बड़ी आवश्यक थी। परंतु गवेषणात्मक निबन्धों अथवा स्थलों मे यह शुद्ध साहित्यिक संस्कृत-पदावली विशेष क्लिष्ट हो गई है। यह क्लिष्टता अथवा गहनता, जो साहित्यिक निबंधों में ही अधिक दिखाइ देती है, मनोवृत्तात्मक निबंधों में ('विचार वीथी, में संकलित) नहीं दिखाई देती। इनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल, और व्यावहारिक है जिसने निबन्धों को और रोचक बना दिया है। एक छोटा-सा उदाहरण, भाषा की दृष्टि से, देखिए—

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों मे होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ-अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह, जो कर्तव्य-कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है, उसके सौंदर्य को पर पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।

—उत्साह (चिंतामणि)।

भाषा के विभिन्न रूपों की विवेचना करने के पश्चात् जिस बात की ओर हमारा ध्यान जाता है वह है लाक्षणिकता। 'अँगरेजी में एक प्रकार की लाक्षणिकता होती है जो शब्दों के प्रयोग

भाषा में लाक्षणिकता

पर निर्भर न रह कर संपूर्ण वाक्य-संगठन के आश्रित रहती है। इस लाक्षणिकता का प्रयोग वाच्यार्थ में सहायता देने के लिये नहीं होता, किन्तु भावों को एक विशेष वक्रता से प्रकट करने में इसका उपयोग होता है। इस प्रणाली की अनेक शैलियाँ अँगरेजी साहित्य में प्रचलित हैं। संस्कृत की विपरीत लक्षणा भी इसके अंतर्गत आ जाती है। इस प्रकार की लाक्षणिकता का प्रयोग शुक्ल जी की भाषा में प्रायः मिलता है। यह विशेषता हिन्दी के अन्य साहित्य-सेवियों की भाषा में प्रायः नहीं मिलती।

गम्भीर अध्ययन और मनन के योग्य साहित्य का शुक्ल जी के प्रादुर्भाव के समय, हिन्दी में एक प्रकार से अभाव ही था। जब

भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति की वृद्धि

साहित्य-सेवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ तब पहली आवश्यकता भाषा की अभिव्यंजन शक्ति और व्यापकता बढ़ाने की प्रतीत हुई। यह कार्य दो प्रकार से हो सकता था। हिन्दी भाषा के ही पूर्व प्रचलित शब्दों का, जो उस समय व्यवहार में नहीं आते थे, फिर से उद्धार किया जाय और दूसरे, अन्य भाषाओं की सहायता से नए शब्द गढ़े जायँ। तीसरा उपाय दूसरी भाषा के शब्दों को हिन्दी का बना लेना था। शुक्ल जी इस तीसरे उपाय के तो विशेष पक्ष में न थे, हाँ अन्य दोनों को उन्होंने सहर्ष अपना लिया। यों, उन्होंने हिन्दी की अभिव्यंजन-शक्ति बढ़ाने के लिये नवीन शब्दों का निर्माण किया और अनेक प्रचलित शब्दों का पुनरुद्धार भी। 'विश्व प्रपंच' नामक अँगरेजी से अनुवादित पुस्तक की भूमिका मे ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अब विदेशी शब्दों के प्रयोग की बात आती है। शुक्ल जी ने अँगरेजी और उर्दू, दोनों भाषाओं के शब्दो का प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा करने मे उनका विशेष उद्देश्य निहित है—दोनो भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उद्देश्य विशेष से किया गया है। आलोचना या

विदेशी शब्दों का प्रयोग

साहित्यिक-विवेचना के लिये शुक्ल जी को अँगरेजी भाषा के आलोचनात्मक साहित्य से सहायता मिली है। अतः जहाँ उनका भाव किसी संस्कृत शब्द से पूर्ण स्पष्ट नहीं होता वहाँ 'अपने अभिप्राय को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्पष्ट करने के लिये उन्हें प्रायः अँगरेजी शब्दों का भी निर्देश करना पड़ता है।' परन्तु उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने साहित्यिक अथवा भावात्मक निबंधों में न करके हास्य अथवा व्यंग्य को चुटकीला और सजीव बनाने, तथा उसमें स्वाभाविकता लाने के लिये किया है। यों, वे प्रचलित शब्दों के प्रयोग के पक्ष में अवश्य हैं, परन्तु उन्हें हिन्दी का बनाने—अपनाने--के विचार से नहीं। इसी से उनका प्रयोग शुक्ल जी ने प्रायः तत्सम रूप में—'चीज', 'तारीफ', 'जरूरी', 'मजाक', 'खैरियत',--किया है; बाबू श्यामसुन्दरदास जी की तरह तद्भव रूप में नहीं।

आलोचना

शैली और भाषा के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'भाव-क्षेत्र में असंबद्ध रूप से छितराई हुई बातों का एक सूत्र-रूपी केन्द्र स्थापित कर इतर भावों को एक लड़ी में पिरोने की कला शुक्ल जी की विशेषता है।' साथ ही 'जटिल से जटिल विषयों का प्रतिपादन करते समय उनके वाक्यों तथा उपवाक्यों का गठन इतना व्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल होता है कि विचारधारा विच्छृंखलित नहीं होने पाती। जैसे निर्मल जल के सोते में नीचे का पृथ्वीतल स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता है वैसे ही इनके निबंधों में इनका हृदय भी स्पष्ट लक्षित होता है।' साथ ही हमने यह भी देख लिया कि 'शुक्ल जी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है, जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों-ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों-त्यों भाषा के रूप-रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी यह बात हम व्यापक रूप में पाते हैं कि

'लेखक के एक-एक वाक्य में भावनाओं का संसार अंतर्निहित है। यही कारण है कि शैली और भाषा की जो प्रौढ़ता हमें इनकी रचनाओं में मिलती है, वह अन्य अधिकांश हिन्दी लेखकों की रचनाओं में नहीं।

पंडित पद्मसिंह शर्मा

(सन् १८७६—१९३२)

शर्माजी संयुक्त-प्रान्त के बिजनौर जिले के निवासी थे। बाल्य-काल में इन्होंने उर्दू, फारसी के साथ-साथ हिन्दी और संस्कृत का बड़ा अध्ययन किया था। कालान्तर में, वे ज्वालापुर के गुरुकुल में अध्यापन-कार्य करने लगे। साथ ही, वे साहित्य का अध्ययन भी करते रहे। हिन्दी-संसार इस समय तक इनसे विशेष परिचित न था; क्योंकि कभी-कभी लेख भी लिखा करते थे। कुछ समय पश्चात् जब बिहारी-सतसई पर पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका हिन्दी-संसार के सामने आई तभी पद्मसिंह शर्माजी को भी हिन्दी वाले पहचान सके। शर्माजी ने इस टीका पर 'सतसई-संसार' नामक एक आलोचना लिखी। यही पुस्तक वास्तव में उनकी प्रसिद्धि का प्रधान कारण है। इस आलोचनात्मक पुस्तक पर(१२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी शर्माजी को मिला था।

परिचय

शर्माजी की हिन्दी-सेवा, अपने समकालीन प्रायः अन्य लेखकों की प्रकृति के विपरीत, केवल एक ही ओर झुकी जान पड़ती है, यद्यपि कवियों के प्रति उनकी बड़ी सहानुभूति थी और समय-समय पर उन्होंने कुछ साहित्यिक लेख भी लिखे थे। वे केवल अपनी तुलनात्मक समालोचना की नवीन शैली के कारण ही हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। बिहारी पर लिखी गई अपनी आलोचनात्मक पुस्तक में सातवाहन-संगृहीत 'गाथा-सप्तशती' (प्राकृत), गोवर्धनार्य प्रणीत 'आर्यासप्तशती' (संस्कृत तथा अन्य कवियों के पद्यों की तुलना उन्होंने बिहारी के दोहों से की है। वास्तव में उनकी तुलना आभ्यांतरिक न होकर बाह्य-तथ्यों पर ही आश्रित है। साथ ही, अपने प्रिय कवि के साथ उन्होंने थोड़ा पक्षपात भी किया है, वैसे ही जैसे वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है।

हिन्दी-सेवा

शर्माजी की प्रसिद्ध पुस्तकें केवल दो ही हैं--(१) पद्मपराग और (२) बिहारी-सतसई। पहली पुस्तक में उनके लेखों का संग्रह
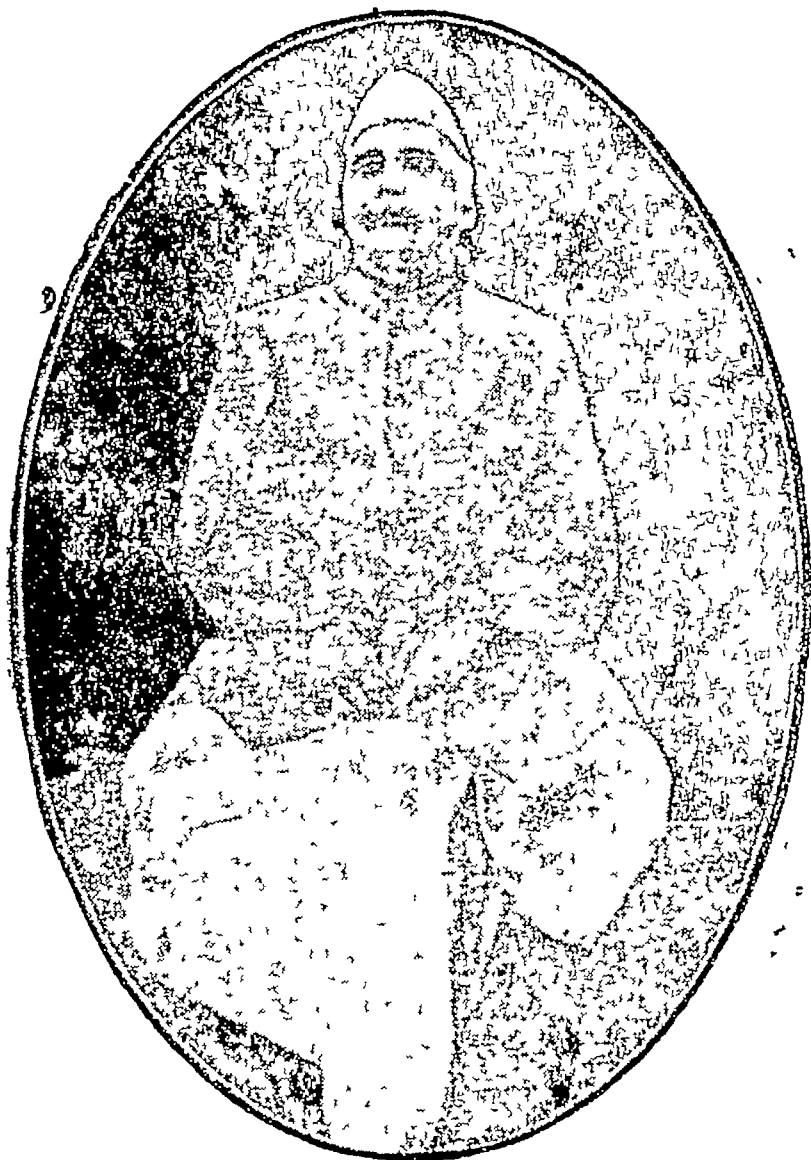
पंडित पद्मसिंह शर्मा

ग्रन्थ

है और दूसरी में तुलनात्मक समालोचना और फिर बि के कुछ दोहों की टीका। इनके अतिरिक्त अनेक विषयों पर लिखे हुए उनके फुटकर लेख और व्याख्यान असंकलित

ही पड़े हैं।

शर्मा जी का प्रिय विषय समालोचना है। परन्तु उन्होंने आचार्य शुक्लजी की भाँति विशेष गवेषणा करके आलोचना नहीं की, जिससे उनकी पुस्तक या निबंध गंभीर अध्ययन की चीज हो जाते।

विषय

उन्होंने केवल बिहारी को बड़ा साबित करने और बिहारी के टीकाकार के दोष दिखाने के लिए ही समालोचना की थी। इसी से 'हाय-हाय', 'वाह-वाह', क्या-खूब' आदि की झड़ी-सी उन्होंने लगा दी है। इस चुहुलबाजी की प्रधानता और गंभीरता के अभाव के साधारणतः तीन कारण हो सकते हैं। पहला यह कि बिहारी को वे श्रेष्ठ प्रमाणित करना ही चाहते थे। दूसरी बात उनकी समालोचना का विषय बिहारी जैसे रसिक कवि की शृंगारी कविता का होना है, जिसमें विरह और प्रेम की गंभीर विवेचना न होकर अतिशयोक्तिपूर्ण चुहुलबाजी ही की प्रधानता है। तीसरे, अपनी तुलनात्मक समालोचना के लिए उन्होंने ऐसा ढंग अपनाया जो उर्दू-कवियों की शृंगारी कविता की दाद देने के लिए मुशायरों में दिखलाई देता है।

रही अन्य आलोचनात्मक लेखों की बात। यद्यपि इन पर भी उनकी विनोदी प्रकृति का प्रभाव पड़ा है, तथापि इनमें अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता मिलती है। विषय और स्थिति की गम्भीरता का परिणाम भी इसे कह सकते हैं।

शर्मा जी की शैली मुख्यतः दो प्रकार की है। पहली, आलोचनात्मक-शैली और दूसरी, वर्णनात्मक गम्भीर शैली। आलोचनात्मक शैली में इन्होंने बिहारी-संबंधी पुस्तक लिखी है।

शैली— आलोचनात्मक शैली

इस शैली पर, जैसा पहले कहा जा चुका है, उर्दू समाज, मुशायरे या महफिल के उस ढंग का प्रभाव पड़ा है जिसमें कविता की दाद 'वाह-वाह', 'शाबाश-शाबाश', 'वल्लाह, क्या खूब कहा' आदि कह कर दी जाती है। इस शैली का एक उदाहरण

यहाँ दिया जाता है—

कितनी पते की बात कही है ! कैसा सुन्दर दृष्टान्त है !

× × × ×

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाय।
तरु संसार पयोधिकों, हरि नामैं करि नाव॥

कैसा अच्छा रूपक बाँधा है ! कितनी सच्ची बात कही है ! हरि नाम को नाव बना और जयमाला की पतवार पकड़—बस, इस संसार समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

× × × ×

वाह ! उस्ताद क्या कहने हैं ! क्या सफाई खेली है ! काया ही पलट दी ! कोई पहचान सकता है ? बात वही है। देखिए तो आलम ही निराला है। क्या ताक कर 'शब्दवेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही तो दिया। एक 'अनियारे पन' ने धवल कृष्ण-पक्ष वाले सब को एक अनी की नोक में बाँध कर एक ओर रख दिया और वाह री 'चितवन' ! तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है ? फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणी' में भी कहते हैं, कुछ भेद है। एक वशीकरण का खजाना है तो दूसरी खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ठहरी। इस एक पद पर तो ऐड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

—बिहारी सतसई

इस प्रकार की चुहुलबाजी प्रायः उन्हीं स्थलों पर विशेष रूप से दिखाई देती है जहाँ उर्दू के ढंग को 'महफिली शाबाशी' के लिए गुंजाइश है। परन्तु जब तक वे इसके लिए भूमिका बाँधते रहते हैं, इस चुहुलबाजी का उक्त रूप सामने नहीं आता; और उनकी शैली कुछ गम्भीरता लिये रहती है। इस कथन की पुष्टि इस अवतरण से हो सकती है—

चुहुलबाजी की गंभीर भूमिका

यह सब बातें बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं। 'सतसई' पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति-पर्यवेषण बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत महारथी कवियों के मुकाबिले में उन्होंने अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके नवीन चमत्कार लाकर कहीं-कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका प्रगाढ़ परिचय था।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रवाहित थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं, जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड़कर अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं। परन्तु बिहारी की अद्‌भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पड़ा, उसे ही अपने रूप में चमका दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारण, ज्योतिषी का ग्रहयोग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिए वही कविता के रंग में रंगा चमक रहा है।

—बिहारी सतसई

निबंधों की गम्भीर आलोचना-शैली

इस अवतरण में पहले की-सी चुलबुलाहट नहीं मिलती और इसमें भी बिहारी की कविता की ही आलोचना की गई है। यह आलोचना की गम्भीर शैली है जिसमें यद्यपि कहीं-कहीं पर व्यंग्य अथवा हास्य को पुट मिलती है, तथापि वह चुहुलबाजी नहीं दिखाई देती जो आलो-

चनात्मक लेखों की गम्भीरता और अध्ययन के लिये घातक है। वस्तुतः उनकी आलोचना शैली के उक्त दोनों ही रूप हमें उनकी तुलनात्मक आलोचना पुस्तक में मिलते हैं। इस दूसरी गम्भीर शैली में ही प्रायः उनके निबंध लिखे गये हैं तथा विनोद-पूर्ण मनोरंजन के लिए उसमें हास्य और व्यंग्य की पुट भी मिलती है। वाक्य सर्वत्र छोटे-छोटे हैं जिनमें विशेष सजीवता है और प्रवाह भी सुन्दर है। 'भगवान् श्री कृष्ण' शीर्षक उनके निबध से नीचे एक अवतरण और दिया जाता है। ऊपर को गम्भीर शैली के उदाहरण से तुलना करने पर उक्त कथन और भी स्पष्ट हो जायगा—

पांडव और कौरव दोनो हो श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिये समान रूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक संग्रह' के तत्त्व से भो भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने आजकल के जमाना साज लीडरों को तरह सर्वप्रियता या हरदिल अजीजी मे फँस कर अपने करारेपन को दाग नहीं लगाया। मेल-मिलाप की मोहमाया में भूल कर, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बताकर अपनी समदर्शिता या उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य-परॉड मुख न हुए।

हमारे इस युग के लीडरों मे तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित के तत्व को सबसे अधिक समझा था और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का कारण भी यही था। महाभारत का भगवच्चरित्र उनके मन की सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीय जी महाराज और श्री लालाजी भी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

शर्मा जी ने स्थान-स्थान पर हास्य और व्यंग्य का पुट दिया है। इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखनी चाहिएँ। एक, जिस सुन्दर और आकर्षक ढग से उन्होंने इसका प्रयोग किया है। वह व्यंग्य का पुट बड़ा प्रभावशाली है। दूसरी, शर्मा जी का व्यंग्य

शिष्ट और साहित्यिक ही है; उससे पक्षी-विपक्षी दोनों का मनोरंजन ही होता है, दिल पर घाव वह नहीं करता।

शर्मा जी की भाषा में गम्भीरता उतनी नहीं है जितनी सजीवता और सरसता। यही कारण है कि उनकी भाषा को अपनाने का प्रयत्न कई बार किया गया है। अपनी शैली द्वारा तो वे दूसरों को मुग्ध कर ही लेते थे, भाषा से भी उनके पाठकों का मनोरंजन होता है। शब्द-समूह और मुहावरों का प्रयोग उन्होंने इस ढंग से किया है कि भाषा में सर्वत्र एक प्रवाह-सा मिलता है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने प्रायः प्रचलित भाषा का ही प्रयोग किया है। परन्तु विशुद्ध हिन्दी, ठेठ उर्दू और हिन्दुस्तानी का जो झगड़ा आज चल रहा है, उसके दोषों से वे परिचित थे। एक बार 'हिन्दुस्तानी एकडेमी' के अधिवेशन में व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था कि इन तीनों रूपों में एक-एक कठिनाई है। विशुद्ध हिन्दी और खालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर बहुत ही कम काम में आती हैं। पंडितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे सुनने वालों की समझ में मुश्किल से आते हैं और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हिन्दुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रन्थ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफी नहीं पाता और अपने हिन्दुस्तानी के दायरे को छोड़कर कभी उसे खालिस उर्दू की तरफ और कभी विशुद्ध हिन्दी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएँ या इस्तलाहें उधार लेनी पड़ती हैं।

भाषा में प्रवाहपूर्णता

प्रश्न हो सकता है कि शर्मा जी वास्तव में किस भाषा के पक्षपाती हैं। इस सम्बन्ध में कि लेखकों को कैसी भाषा अपनानी चाहिए, शर्मा जी का यह विचार ध्यान देने योग्य है—

जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका, यह सहृदय

भाषा-रूप-सम्बन्धी विचार

समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम चलाऊपन के साथ भाषा में सरलता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्य-वाटिका से—जिसे हजारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिए मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा। यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल से स्वच्छ आकाश-पुष्पो की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जग भाषा-विज्ञान के लिए उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं, अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है?

एक महाशय ने 'रामचरितमानस' की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव किया है। इस दृष्टि से शर्मा जी का उक्त प्रस्ताव भी महत्व का है।

श्री प्रेमचंद जी

(सन् १८८०—१९३६)

बाबू प्रेमचंद जी का असली नाम धनपतराय था। आपका जन्म सन् १८८० में एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल मे हुआ था। आरंभ में इन्होंने उर्दू-फारसी की शिक्षा पाई। सन् १८९९ के लगभग इन्होंने मैट्रीकुलेशन पास किया और ये एक स्कूल में अध्यापक हो गए। उस समय इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और लगभग २०) मासिक ही इन्हें मिलते थे परंतु इन्होंने किसी प्रकार बी० ए० पास कर लिया। इसके कुछ समय बाद राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर इन्होने नौकरी छोड़ दी

परिचय

उर्दू मे सन् १९०१ के लगभग ही इन्होने कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया

हिंदी के क्षेत्र में

था। ५-६ वर्ष बाद ये उपन्यास भी लिखने लगे। अपने समय के ये उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे और आपकी कहानियाँ उर्दू के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'जमाना' मे आदर से स्थान पाती थीं। सन् १९१५ के आस-पास से ये अपनी उर्दू कहानियों और उपन्यासों का रूपांतर हिंदी में करने कराने लगे। यों, इन्होंने हिंदी साहित्य क्षेत्र में पदार्पण

[श्रीयुत प्रेमचंद जी]

किया। लगभग २० वर्ष तक हिंदी में कहानियाँ और उपन्यास लिख-कर इन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की। 'मर्यादा' और 'माधुरी' का सम्पा-दन भी इन्होंने कुछ समय तक किया। तत्पश्चात्, सरस्वती प्रेस, बनारस की स्थापना करके 'हंस (मासिक) और 'जागरण (साप्ताहिक) का सम्पादन किया। सिनेमा मे भी ये कुछ दिन काम करने गए थे।

प्रेमचन्दजीने लगभग ४०० कहानियाँ लिखीं। उपन्यासों से अधिक इनकी कहानियों का प्रचार है और उनमें उपन्यासों से अधिक मार्मि-कता भी है जो हृदय को चुटकी लेती है। संपूर्ण जीवन की समस्त परिस्थितियों की मार्मिक विवेचना इनकी कहानियों मे मिलती है और जिन कहानियों मे हर्ष-शोक, सुख दुख, ममता कर्तव्य आदि विपरीत भावों का द्वंद है, वे बड़ी उच्च-कोटि की हैं।

हिंदी-सेवा—कलापूर्ण मौलिक कहानियाँ

उपन्यास के क्षेत्र मे भी इन्होने मौलिक और आदर्श कार्य किया। हिंदी के, वास्तव मे, यही सर्व प्रथम साहित्यिक उपन्यास लेखक हैं। और मौलिकता की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। इनके उपन्यास हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। सबसे महत्वपूर्ण कार्य, इस क्षेत्र में, उनका यह है कि तत्कालीन उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र मे उन्होने युगांतर उपस्थित किया। उनके पहले भी हिन्दी में उपन्यास लिखे गये थे उनका प्रचार भी बहुत हुआ था। यद्यपि उनसे पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता था, तथापि उनमें जनता की रुचि को उन्नत बनाने अथवा उसमें संस्कार करने की क्षमता नहीं थी। यह कार्य प्रेमचन्दजी की कृतियों ने किया; कथा-कहानियों को सुन्दर साहित्यिक रूप देकर जनता की रुचि को इन्होने उन्नत किया।

श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास

अतः प्रेमचन्द ही हिंदी के प्रथम कहानी और उपन्यास लेखक हैं, जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी,

श्रेष्ठता की कसौटी

गुजराती, जापानी बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया था। कह सकते हैं कि प्रेमचन्दजी ने इस ऋण को अदा करने की ओर कदम बढ़ाया था।

प्रेमचंद जी के प्राय: सभी उपन्यासों में और अधिकांश कहानियों में पाठकों के लिए कुछ न कुछ उपदेशात्मक संदेश अवश्य है और

मणि-कांचन संयोग

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्राय: सभी कुरीतियों की उन्होंने आलोचना भी की है। परन्तु इसके लिये उन्होंने ऐसे मीठे ढंग को अपनाया है कि उससे पाठकों का मनोरंजन होता है, किसी प्रकार की कटुता का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार उनकी रचनाओं में 'शिवं सुन्दर' का मणि-कांचन-संयोग है।

दूसरी बात इनकी कृतियों के सम्बन्ध में यह भी कही जा सकती है कि वे 'मनुष्य जीवन की साधारण से साधारण घटना को लेकर

मनोवैज्ञानिक चित्र

उसका निष्कर्ष निकालते समय मनुष्य-हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को मनोविज्ञान के नियमों के ढंग पर ऐसा सजा कर धर देते हैं कि देखते ही बनता है।' दूसरे शब्दों में, 'मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र' इन्होंने खींचा है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी हिन्दी के लेखकों में इनका विशेष स्थान है। इनके सब पात्र स्वच्छन्द जीवित नर-

चरित्र-चित्रण की स्वतन्त्रता

नारी हैं। जान पड़ता है कि उनको उन्होंने बोलने-चलने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है और जो वे कहते हैं उसी का चित्र ये खींचते जाते हैं।

उनकी रचनाओं की एक और विशेषता है। इन्होंने न तो 'उग्र' जी की तरह यथार्थ के नाम पर सामाजिक नग्नचित्र खींचे

हैं और न आदर्श के पीछे पड़कर वे उपदेशक ही बन गए हैं। एक निपुण चित्रकार की तरह उन्होंने यथार्थ का उतना ही चित्रण किया है जितना विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है और कुशल कलाकार की तरह आदर्श को भी उतना ही संकेत किया है जितना सहृदय समाज के लिए उपयोगी है।

यथार्थ और आदर्श का समन्वय

अंतिम बात यह है कि प्रेमचन्दजी जनता के साहित्यकार हैं। उनके प्रधान उपन्यासों और अधिकांश कहानियों का विषय उन दीन-हीन, निर्धन, निरीह कृषकों की ग्राम समस्या है जिसका सम्बन्ध समाज और राजनीति, दोनों से है। उन्होंने पूँजीपतियों का गुणगान न करके इन दीन-दुखियों को अपनाया है। इससे हमें उनकी विशाल हृदयता का पता हो सकता है। जिस दिन हमारे किसान शिक्षित होंगे उसी दिन प्रेमचचन्दजी का वास्तविक मूल्य हमें मालूम होगा, तभी वास्तव मे उनका सम्मान होगा, क्योंकि उन्हें प्रेमचन्दजी की कृतियों में वह चीज मिलेगी जो हिन्दू-समाज को तुलसीकृत रामायण में मिलती है।

जनता के साहित्यकार

प्रेमचन्द की रचनाओं का सारे भारत में प्रचार हुआ है; जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया है। हमारे साहित्यिक भी उनका हृदय से सम्मान करते हैं। हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें अपना सभापति तो नहीं बनाया और न उनकी रचनाओं को पुरस्कृत ही किया, फिर भी सभी हिंदी-भाषियों के हृदय में प्रेमचन्दजी ने घर कर लिया है और प्रतिदिन उनकी रचनाओं का प्रचार बढ़ता जाता है। उनके 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से ५००) का पुरस्कार मिल चुका है।

स्वागत-सम्मान

प्रसिद्ध उपन्यास—'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान'।

कहानी-संग्रह—'प्रेम द्वादशी', 'प्रेम पूर्णिमा', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'नवनिधि'।

प्रेमचन्दजी के अन्य ग्रन्थ—'सप्त-सरोज', 'प्रेम-प्रमोद', 'मान-सरोवर' (आठ भाग)।

नाटक—'कर्बला', 'संग्राम', 'प्रेम की वेदी'।

विषय

प्रेमचन्दजी के विषय के सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण, उन्होंने केवल कहानियाँ और उपन्यास ही अधिक लिखे हैं। 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस' और 'जागरण' के सम्पादक होकर उन्होंने जो सम्पादकीय नोट लिखे थे उनका विषय प्रायः गम्भीर है। परन्तु उनके उपन्यासों और कहानियों में भी गंभीर स्थल हैं। अतः शैली में विशेष अन्तर नहीं है।

शैली

आरम्भ में प्रेमचन्दजी उर्दू में लिखते थे और उर्दू के प्रसिद्ध लेखकों में गिने जाते थे। हिंदी में आने पर उर्दू शैली का उनके लिखने के ढंग पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। परन्तु उर्दू शैली से प्रभावित होने पर भी उन्होंने हिंदी-शैली की साहित्यिक विशेषताओं को अपनाने का प्रयत्न किया और इसमें सफल भी हुए। फलतः हिन्दी की अभिव्यंजन-शक्ति के विकास मे उन्होंने भी महत्वपूर्ण योग दिया। कहा जा सकता है कि भाषा की जो शुद्धता और साहित्यिकता, नवीनता और गम्भीरता हमे प्रसादजी की रचनाओं में मिलती है, वह प्रेमचन्दजी की कृतियों मे अधिक नहीं; परन्तु मनुष्य जीवन की सरल व्यंजना करने के लिए उन्होंने जिस शैली को अपनाया, उसमें प्रायः वही विशेषताएँ हैं, जिनके कारण कविवर मैथिलीशरणजी की कविता लोकप्रिय है।

शैली की सरलता

उनकी शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रकार की सरलता है जो पाठकों का चित्त अपनी ओर आकर्षित कर ही लेती है। भावों के आवेश के कारण इस शैली में विशेष सजीवता और बल आ जाता है, परन्तु सरलता वैसी ही बनी

और सजीवता रहती है। जहाँ कोमल भावों की व्यंजना है वहाँ भाषा मधुर और कोमल हो गई है; जहाँ क्रोध, आवेश अथवा किसी प्रकार की उग्रता आदि भाव प्रकट किए गए हैं वहाँ शैली भी उग्र और ओजपूर्ण हो गई है; जहाँ तिरस्कार, अवहेलना अथवा अपमान-सम्बन्धी भाव स्पष्ट किए गए हैं, वहाँ शैली में शब्दों का चयन इस ढंग का मिलता है जिससे घृणा का भाव स्पष्ट हो जाय। नीचे उदाहरण देकर इन बातों को स्पष्ट किया जाता है—

रानी जाह्नवी के हृदय में सोफिया के प्रति स्नेह का संचार होता है, तब वह कहती है—

बेटी तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था, मैंने तुम्हे पहचाना न था। मुझे सब मालुम है बेटी! सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे मालुम न था। आह! अगर पहले से जानती।

—रङ्गभूमि पृ० ४७२

ऐसा ही स्नेह बुढ़िया पठानिन के हृदय में भी संचारित होता है और अत्यन्त कृतज्ञ होकर वह कहती है—

मेरा बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना हैरान हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा, अल्लाह तुम्हें बड़ा दरजा दे।

—कर्मभूमि पृ० ४६

परन्तु जब इन्हीं दोनों स्त्रियों को कारणवश क्रोध आ जाता है तब शैली ओजपूर्ण हो जाती। उसी सोफिया से रानी जाह्नवी कहती है—

मैं राजपूतानी हूँ, मरना भी जानती हूँ और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि मैं तुम्हें विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ, मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगी।

—रङ्गभूमि पृ० १५८

बुढ़िया पठानिन भी क्रोध में आकर उसी अमर से आग भरे शब्दों में कहती है—

होश में आ छोकरे! बस, अब मुँह न खोलना, चुपचाप चला जा, नहीं आँखें निकलवा लूँगी; तू है किस घमंड में? खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह मे कालिख लगा कर चला जा।

—कर्मभूमि पृ० १७५

इसी प्रकार जहाँ भावों का उद्‌गार|हृदय का ज्वालामुखी फाड़कर निकलना चाहता है, वहाँ तो शैली ऐसी ही बलशाली हो गई है, और

शैली की अलंकारिता

जहाँ किसी मार्मिक, अथवा सुंदर मनोहारी दृश्य या भाव को स्पष्ट करना होता है, वहाँ शैली में अलंकारों की उन्होंने योजना की है। इससे भी शैली मे विशेष सजीवता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

(१) गंगाजली ने उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाए, पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गए, जैसे किसी गोली खाकर गिरने वाली चिड़िया के दोनों पंख खुले रह जाते हैं।

—सेवासदन पृ० १४

(२) आनंद, महीनों चिंता के बंधन में पड़े रहने के बाद आज जो छूटा तो छूटे हुए बछड़े की भाँति कुलाचें मारने लगा।

—कर्मभूमि पृ० १०४

अलंकारों का यह विधान सुन्दर और मार्मिक तो अवश्य होता है, परन्तु जब लेखक इन्हीं के फेर मे पड़कर अलंकारों की झड़ी-सी लगाने लगता है तब शैली मे स्वाभाविक मार्मिकता नहीं रह जाती; वरन् पाठकों को उससे एक प्रकार की अरुचि-सी हो जाती है। प्रेमचंदजी की रचनाओं मे कुछ ऐसे स्थल हैं—

(१) व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टि को बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई—

जैसे वेदना-पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।

(२) जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है, और सुन्दर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े मे जान आगई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गईं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गास सावन मे निखर आती है और खेतों मे किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह सताई हुई रमणी अब निखर गई है।

—सेवासदन

ऊपर के चारों उदाहरण देखकर कह सकते हैं कि उनका अलंकार-विधान—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का आश्रय लेकर बिषय को स्पष्ट कर देना—कहीं-कहीं सुन्दर, प्रभावोत्पादक हो जाता है और लेखक की अभीष्ट सिद्ध मे सहायक होता है तो कहीं-कहीं पर अति के कारण अस्वाभाविक और कृत्रिम-सा लगने लगता है। हाँ, इसमे कोई संदेह नहीं कि कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में गद्यकाव्य-सा आनन्द आता है। ऐसे स्थलो पर भावो की सुकुमारता और मधुरता का मिश्रण पाठकों को मुग्ध कर लेता है। उदाहरण के लिए—

गद्य-काव्य का आनन्द

गगन-मंडल मे चमकते हुए तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने वृक्षों के कुंज थे, विनय की स्मृतिमूर्ति, श्याम, करुण स्वर की भाँति, कंपित धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।

—रंगभूमि पृ० ४५६

शैली की आलोचना

सारांश यह कि उनकी शैली में सर्वत्र सरलता है। एक अलोचक ने लिखा था—इनकी भावाभिव्यक्ति की प्रणाली विवरणात्मक भी होती है और संकेतात्मक भी। विवरण जहाँ आवश्यकता से अधिक

हो जाते हैं वहाँ कहीं-कहीं, भाव और भाषा के समन्वय में दुर्बलता आजाती है—विवरण मानो आकार-वृद्धि के लोभ में पड़कर भाव-विशृङ्खलता के दोष-जाल में आप ही आप फँस जाते हैं। साधारणतः इनके सभी उपन्यासों में और विशेषतः 'प्रेमाश्रम' में इस प्रकार के विवरणात्मक अंश बहुत हैं जिनके भावों को भाषा-प्रवाह के धक्कों ने छिन्न-भिन्न कर रक्खा है। सच तो यह है कि विवरणात्मक या विश्लेषणात्मक शैली के भीतर इनकी भाषा अपनी वास्तविक गति से काम लेना भूल जाती है। किन्तु वही अभिनयात्मक या संकेतात्मक शैली के आश्रय से पहुँच कर अपनी गति-विधि को बड़ी ही सतर्कता और सुन्दरता से सम्हालती चलती है। इनकी भाषा शैली का जीता-जागता स्वरूप विशेषकर इनके पात्रों के कथोपकथन में हीं देखने को मिलता है। अभिनयात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करके इनकी भाषा बड़ी तत्परता से एक हृदय का भाव दूसरे हृदय तक पहुचा देती है। उस समय उसका प्रवाह जितना ही प्रखर होता है, उतना ही गंभीर भी। सूरदास के एक ही 'अनमेल कथन' द्वारा, 'थोड़े से शब्दों में' इन्होंने हमारे सारे पारस्परिक, सामाजिक, राजनीतिक, जीवन की विवेचना की है। उसके भीतर इनकी भाषा की भाव-संचारिणी शक्ति का अवलोकन कीजिए—

बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नही उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियो को मिलाकर भी नही खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं।

—रंगभूमि पृ० ८६०

इसी प्रकार की सरलता के साथ-साथ उनकी शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रवाह रहता है। शिथिलता का अभाव तो ऐसे स्थलों पर

शैली की प्रभावोत्पादकता रहता ही है साथ ही सजीवता के कारण एक प्रकार की प्रभावोत्पादक मनोहरता आ जाती है। वाक्य, इस शैली के प्रायः छोटे-छोटे हैं जो 'गम्भीर घाव' करते हैं। एक वाक्य दूसरे से निकल कर इस शैली को और भी गठित कर देता है। भाषा तो ऐसे स्थलों की प्रचलित होती ही है। उदाहरण के लिए भारतीय किसान का यह चित्र देखिए—

सीधे-साधे किसान, धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती से कई साल से कचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छिटक जाता तो कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई, उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हजार हाथ में आए। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी।

कानूनगो इलाके में आते तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा विभाग के अफसर, एक न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो करते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाए गए, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जहूरा था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठतले एक बूँद भी जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग।

—'सुजान भगत' शीर्षक कहानी

इस अवतरण में जैसे मीठे व्यंग्य की पुट है वैसी ही उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर मिलती है। यद्यपि उन्होंने सामाजिक बुराइयाँ, राजनीतिक दोष, धार्मिक पाखंड, नैतिक कुरीतियों आदि की व्यंग्यात्मक शैली में विवेचना की है, तथापि उनका व्यंग्य कभी इतना चुटीला नहीं होता जो किसी को कष्ट पहुँचाए, उसमें सर्वत्र एक मिठास रहती है जो मनोरंजन के साथ-साथ हमारी आँखें भी खोलती है। हास्य और व्यंग्य की मिश्रित पुट इस अवतरण को कैसा मार्मिक बना देती है! वकील साहब अपने खर्चे में कमी करने की चिंता में हैं। परेशान-होते-होते एक विचार सूझा कि घोड़े की रातिव में कुछ कमी करदी जाय। इस पर उनकी स्त्री सुभद्रा व्यंग्य करती हुई कहती है—

हास्य और व्यंग्य का पुट

हाँ, यह दूर की सूझी। घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय? घास काफी है। यही न होगा, कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आवेंगी। किसी तरह मर-जीकर कचहरी तक लेही जायगा। यह तो कोई नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है।

—सेवासदन पृ० १६

उनकी शैली की अंतिम विशेषता है मुहावरों और सूक्तियों का सुन्दर प्रयोग। उर्दू पर पूर्ण अधिकार होने के कारण मुहावरों की झड़ी-सी लगाना तो प्रेमचन्द जी के लिए स्वाभाविक ही था और उर्दू क्षेत्र में आने वाले लेखकों ने ऐसा ही किया भी है; पर चार-पाँच वाक्यों के बीच में एक-आध मर्मभेदनी और अनुभूतिमूलक सूक्ति जड़ देना उनकी निजी विशेषता है। इन सूक्तियों में 'काव्यगत सौंदर्य भी रहता है और जीवन के गंभीर अनुभव भी भरे रहते हैं।' मुहावरों के उदाहारण यहाँ देने की आवश्यकता नही, भारतीय किसान वाले अवतरण मे ही उनकी छटा देखी जा सकती है, यहाँ दो एक सुन्दर सूक्तियाँ देख लीजिए—

मुहावरे और सूक्तियाँ

(१) प्रेम हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका बस नहीं चलता।

(२) प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शांत स्थिर उद्गार-हीन समावेश है।

(३) अनुराग, यौवन या रूप या धन से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग, अनुराग से उत्पन्न होता है।

ऐसी सूक्तियों का संकलन करने से एक छोटी-सी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस संबंध में इतना और स्मरण रखना चाहिए कि इन सूक्तियों से हमारे जीवन का संबंध है, इनमें जीवन के गंभीर अनुभवों का सार भरा हुआ है और इसीलिए किसी समय इनका उसी प्रकार आदर होगा जिस प्रकार तुलसी आदि कवियों की सूक्तियों का आज हो रहा है।

उर्दू के जो लेखक हिंदी में आ जाते हैं प्रायः उनकी भाषा में एक दोष यह रहता है कि वे अपने साथ उर्दू-भाषा-पन ले आते हैं जो हिंदी में खपता नहीं, खटकता रहता है। ऐसा ही कुछ प्रभाव पद्मसिंह शर्मा की भाषा पर पड़ा है। परंतु प्रेमचंदजी ने उर्दू की उन्हीं बातों को अपनाया जिनकी हिंदी में कमी थी या जो हिंदी में प्रायः खटक नहीं सकती थीं। साथ ही उन्होंने हिंदी की प्रकृति का भी ध्यान रक्खा और उसकी विशेषताएँ भी वे बराबर अपनाते रहे। भाषा-संबंधी प्रेमचंद का यही आदर्श कहा जा सकता है। इसे अपनाने का फल यह हुआ कि उपन्यासक्षेत्र में भाषा-संबंधी जो दोष बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा में रह गए थे उनका प्रेमचंदजी संस्कार भी कर सके और जनता के सामने उसका साहित्यिक तथा परिमार्जित रूप भी रख सके जिसको अपनी रुचि, आदर्श, उद्देश्य, संस्कार आदि के कारण थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके, उनके बाद के अन्य लेखकों ने सहर्ष अपना लिया। भाषा की दृष्टि से उनकी शैली के तीन स्वरूप मिलते हैं।

भाषा

उर्दू-प्रधान भाषा जिसका प्रयोग प्रायः मुसलमान पात्र के मुख से,

उर्दू-प्रधान भाषा

या मुसलमानों से बात करते समय किया गया है। इसका नमूना—

मैं खुद अपने दौराने मुलाजिमत में उनकी नकल व हरकत की रिपोर्ट लिखा करता था। मगर मेरे खियाल में किसी जिम्मेदार हिन्दू ने गवर्नमेंट के इस तर्जेअमल की मुखालिफत नहीं की हालाँकि मेरी निगाह में सरका, कत्ल वगैरह इतने मकरूह फेल नहीं हैं जितनी असमत फरोशी।

प्रायः इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग 'सेवासदन' में सैयद तेग अली और हकीम शोहरतखाँ तथा 'प्रेमाश्रम' में सैयद इर्फान अली और कहीं-कहीं सैयद ईजाद हुसेन से, कराया गया है। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि पात्र के अनुसार कथोपकथन की भाषा में थोड़ा बहुत अन्तर कर देना तो स्वाभाविक है परन्तु इतना नहीं, और इसी से उनकी भाषा का यह रूप उनकी भाषा-शैली में एक दोष ही समझा गया है।

उनकी भाषा का दूसरा रूप वह है जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रधानता है। ऐसी भाषा का प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थलों पर किया गया है

संस्कृत की प्रधानता

जहाँ कवियों की तरह भावमग्न होकर लेखक अपने विचारों को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए कवित्व-पूर्ण शैली का यह स्थल देखिए—

श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बाल-ज्योति की भाँति अमरकान्त को अपने अन्तःकरण की सारी शुद्धता, सारी कलुषता के भीतर, एक प्रकाश-निकला हुआ जान पड़ा, जिसने उसके जीवन को रजत-शोभा प्रदान करदी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वर में, गगन की तारिकाओं में उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसी का नृत्य था।

कर्मभूमि पृ० ६४

शुद्ध साहित्यिकता की दृष्टि से गद्य-काव्य का-सा आनन्द देने वाले ऐसे स्थल पाठकों को बहुत प्रिय हैं।

उनकी भाषा का तीसरा रूप वह है जिसमें उक्त दोनों शैलियों का सामंजस्य है। यही उनकी शैली का वास्तविक रूप है और इसी में उन्होंने अधिकांश ग्रंथ लिखे हैं। विषय और पात्र के अनुसार भाषा के इस रूप में परिवर्तन हो जाता है, इसकी विवेचना अन्यत्र की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार की भाषा में स्वाभाविकता भी है और प्रवाह भी एक छोटा-सा उदाहरण देखिए—

प्रथम दोनों रूपों का सामंजस्य

गाड़ी चलदी, उस वक्त रमा को अपनी दशा पर रोना आ गया। हाय, न जाने उसे कभी लौटना नसीब भी होगा या नहीं। फिर यह सुख के दिन कहाँ मिलेंगे! ये दिन तो गये, हमेशा के लिये गये। इसी तरह सारी दुनिया से मुँह छिपाए, वह एक दिन मर जायगा। कोई उसकी लाश पर आँसू बहाने वाला भी न होगा। घरवाले भी रो-धोकर चुप हो रहेंगे।

—गबन पृ० ११५

प्रेमचन्द जी की भाषा का यह प्रतिनिधि स्वरूप उनकी सभी रचनाओं में अधिकता से मिलता है। यह वास्तव में बोलचाल की भाषा का वह संस्कृत रूप है जिसमें देवीदीन जैसे अशिक्षित और अपढ़ भारतवासी अपने विचार प्रकट करते हैं। इस भाषा को लेखक ने बड़े संयम से लिखा है; यह सर्वत्र ग्रामीणों की तरह सीधी-सादी बनावटीपन से अछूती है। संस्कृत या अरबी फारसी की तत्समता का प्रभाव इस पर प्रायः नहीं पड़ता। अलङ्कारों का प्रयोग इसमें प्रायः मिलता है पर कहने वाले की लियाकत या पंडिताई दिखाने के लिये नहीं, बल्कि कही हुई बात को अच्छी तरह समझाने के लिये। चलते मुहावरे उसमें अपनी चटक मटक तो नहीं दिखाते; पर ठीक ठीक अर्थ समझाने के लिए मौके पर आ जाते हैं। देवीदीन की भाषा का यह नमूना बड़ा सुन्दर है।

जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न-जल खाते हैं, उसके लिए

इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है। दो जवान बेटे इसी सुदेसी की भेंटकर चुका हूं। भैया ऐसे-ऐसे पट्ठे थे कि तुम से क्या कहूँ! दोनों विदेशी कपड़े की दूकान पर तैनात थे। क्या मजाल थी कि कोई गाहक दूकान पर आ जाय। हाथ जोड़कर, घिघियाकर, धमका कर, लजवाकर सबको फेर लेते थे। बजाजे में सियार लोटने लगे। सबों ने जाकर कमिश्नर से फरियाद की। सुन कर आग हो गया। बीस फौजी-गोरे भेजे कि अभी जाकर बाजार से पहरे उठा दो। गोरों ने दोनों भाइयों से कहा—यहाँ से चले जाव; मुदा वह अपनी जगह से जौ भर न हिले।

भीड़ लग गई। गोरे उन पर घोड़े चढ़ा लाते थे; पर दोनों चट्टान की तरह डटे खड़े थे। आखिर जब इस तरह कुछ बस न चला तो सबों ने डंडों से पीटना शुरू किया। दोनों वीर डंडे खाते थे; पर जगह से न हिलते थे। जब बड़ा भाई गिर पड़ा तो छोटा उसकी जगह आ खड़ा हुआ। अगर डंडे सँभाल लेते तो भैया, उन बीसों को मार भगाते; लेकिन हाथ उठाना तो बड़ी बात है, सिर तक न उठाया। अन्त में छोटा भी वहीं गिर पड़ा। दोनों को लोगो ने उठाकर अस्पताल भेजा। उसी रात को दोनों सिधार गए। तुम्हारे चरन छू कर कहता हूं, भैया, उस बखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता तो इस समय उन्हें भी भेज देता। जब अर्थी चली तो एक लाख आदमी साथ थे। बेटों को सौंप कर मैं सीधे बाजाजे पहुँचा और उसी जगह खड़ा हुआ, जहाँ दोनों वीरों की लहास गिरी थी। गाहक के नाम चिड़िये का पूत तक न दिखाई दिया। आठ दिन वहाँ से टला तक नहीं। बस, भोर के समय आध घण्टे के लिए घर आता था और नहा-धोकर कुछ जल पान करके चला जाता था। नवें दिन दूकानदारों ने कसम खाई कि विलायती कपड़े अब न मँगायँगे। तब पहरे उठा लिए गए। तब से विदेशी दियासलाई तक घर में न लाया।

—गबन पृ० १७६

पात्र के अनुसार उनकी भाषा परिवर्तित होती रहती है। जालपा से कहार त्योरियाँ बदल कर कहता है—तो का चार हाथ-गोड़ के लेई, कामै से तो गया रहिन। बाबू मेम साहब के तीर रुपैया लेवै का भेजिन रहा—पृ० ११५—देवीदीन खटिक भी लहास सूराज (स्वराज्य) सिपारिश, रुसवत (रिश्वत) आदि का प्रयोग करता है। पुलिस के बंगाली डिप्टी की भाषा का नमूना यह है—आपको वही गवाही देना होगा जो आप दिया। अगर तुम कुछ गड़बड़ करेगा, कुछ भी गोल-माल किया, तो हम तुम्हारे साथ दूसरा बर्ताव करेगा...तुम पुलिस को धोखा देना दिल्लगी समझता है। अभी दो गवाह देकर साबित कर सकता है कि तुम राजद्रोह का बात कर रहा था। बस, चला जायगा सात साल के लिए। चक्की पीसते पीसते हाथ में थट्टा पड़ जायगा। यह चिकना गाल नहीं रहेगा।

—गबन पृ० २६६

अँगरेजी के शब्द

उनकी भाषा में कहीं-कहीं पर अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। जैसे 'अमृतराम स्पीच सुनने में तल्लीन थे' (प्रतिज्ञा पृ० १) 'पुलिस के कर्मचारियों के चार्ज में छोड़ दिया' (कर्मभूमि पृ० ३५) 'रटी हुई स्पीच है।' (प्रतिज्ञा) इसी प्रकार गवर्नमेंट, कोर्ट, कैरेक्टर आदि अन्य शब्द भी इनकी भाषा में यत्र-तत्र मिलते हैं, विशेष कर अँगरेजी पढ़े-लिखे पात्रों के कथोपकथन में। जब हम अपनी साधारण बोलचाल में इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तब प्रेमचन्दजी का इन शब्दों को अपनाना भी दोष नहीं माना जा सकता; इनके प्रयोग में तो स्वाभाविकता ही समझी जानी चाहिए।

भाषा के दोष

इनकी भाषा में, विशेषकर आरंभिक कृतियों में व्याकरण, विराम चिह्न, सर्वनाम का प्रयोग आदि से संबंधित कुछ दोष मिलते हैं जिनके कारण कुछ आलोचक इनसे बहुत नाराज हैं। हमारी सम्मति में, उन दोषों की विवेचना यहाँ न करना ही अधिक समीचीन है। विद्यार्थी उनकी भाषा की

शैलियों और विशेषताओं से परिचित हो जायँ, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। फिर, उनकी परवर्ती रचनाओं में वे दोष नहीं मिलते। अतः केवल प्रेमचन्द की भाषा का अध्ययन करने वाले व्यक्ति-विशेष के लिए उन दोषों की विवेचना का कुछ महत्व भले ही हो, हिन्दी-साहित्य के साधारण विद्यार्थियों के लिए तो कदापि नहीं हो सकता।

बाबू जयशंकरप्रसाद

(सन् १८८६—१९३७)

बाबू जयशंकरप्रसाद का जन्म सन् १८८६ में एक प्रतिष्ठित व्यापारी कुल मे हुआ था। ये कान्यकुब्ज वैश्य थे। बाल्यकाल में इनकी शिक्षा का कोई

परिचय प्रबंध स्कूल में नहीं किया गया; आप ने अपने घर पर ही शिक्षा पाई। विद्याध्ययन से प्रसाद जी को विशेष रुचि थी। अतः शीघ्र ही आप संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी पढ़ गए। संस्कृत से उन्हें विशेष प्रेम था, और भारतीय संस्कृति के वे बड़े पक्षपाती थे। इसी से, अन्त तक, प्राचीन संस्कृति और साहित्य का आप अध्ययन करते रहे। बँगला भी आप

बाबू जयशंकरप्रसाद

ने सीखी थी। हिंदी से आपको स्वाभाविक स्नेह था और अपने व्यापार की थोड़ी-बहुत देखभाल करते रह कर आप हिंदी-साहित्य की भी अमूल्य सेवा करते रहे थे।

प्रसाद जी की बहुमुखी प्रतिभा के कारण हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी उनसे परिचित हैं। उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता उनकी

हिंदी-सेवा—रचनाओं में मौलिकता

मौलिकता है। उनके प्रादुर्भाव के समय यद्यपि हिंदी-साहित्य की थोड़ी-बहुत वृद्धि अवश्य हो रही थी तथापि उसमें मौलिकता का अभाव सा था। उस समय जो साहित्य रचा जा रहा था वस्तुतः वह हिंदी का नहीं था, और न हिंदी वाले कभी उस पर गर्व ही कर सकते थे। अतः इस बात की आवश्यकता थी कि मौलिक रचना की ओर ध्यान दिया जाय। प्रसादजी ने मुख्यतः हिंदी साहित्य के दो प्रधान अंगों—नाटक और कविता—में मौलिकता का समावेश किया। उनका विषय नया था, शैली नई थी, रचनादर्श नया था। प्रसादजी की पहली विशेषता यही है।

कलात्मक चमत्कार

उनकी दूसरी विशेषता है अपनी कृतियों में एक नवीनता—कथानक में एक विशेष प्रकार का चमत्कार—पैदा कर देना जो पाठकों को ऐसे ढंग से अपनी ओर आकृष्ट करता है कि वह चमत्कृत होकर तो रह जाता है पर उसका कारण नहीं समझ पाता। इस चमत्कार-प्रदर्शन के मूल में वास्तविकता ही रहती है जो कल्पना के कलात्मक सहयोग से क्रमशः मार्मिक और प्रभावोत्पादक बन जाती है। प्रसाद जी के नाटकों में नायकों के चरित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर यह बात हमारी समझ में आजायगी।

सफल नाटकों की रचना

इनके महत्व का तीसरा कारण है, नाटक-साहित्य के रिक्त भंडार को भरना। हिंदी में, उनके पहले, मौलिक नाटक एक ही-दो लिखे गए थे और उनकी शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी विशेष नवीनता नहीं थी। प्रसादजी ने इस कमी को पूरा किया और कई सुंदर-सुंदर नाटक लिखे। इनके नाटकों के कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय संस्कृत का भी सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रसाद जी आधुनिक रहस्यवादी कविता की नवीनधारा के प्रवर्तक

भी माने जा सकते हैं। द्विवेदी-काल के, 'सरस्वती' के कवियों के ढंग पर कविता न करके उन्होंने

रहस्यवादी कविता के प्रवर्तक प्रधानतः यौवन और प्रेम-विषयक बड़ी सुंदर भावात्मक कविताओं की रचना की, जिनके कारण वे विश्व-विद्यालयों के नवयुवक विद्यार्थियों को विशेष प्रिय हैं। रहस्यवादी कवियों में तो उनकी तुलना विश्वविख्यात कवींद्र रवींद्र से की जाती है।

पाँचवीं विशेषता है उनकी साहित्य शैली, जिसके कारण उनकी कहानियाँ भी गद्य-काव्य का सा आनन्द देती है।

साहित्यिक शैली-संबंधी दृढ़ता

द्विवेदी जी के सरल-भाषा-प्रचार-सम्बन्धी आंदोलन के बहुत तीव्र होने पर भी वे भाषा के साहित्यिक रूप को ही अपनाए रहे। 'राष्ट्र-भाषा हिंदी हो' कहने वालों के फेर में पड़ कर उन्होंने अपनी भाषा नहीं बिगाड़ी। आज उनकी भाषा का साहित्यिक रूप भी उनके महत्त्व का कारण समझा जाता है।

ग्रंथ

'प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। नाटकों के लिए तो वे प्रसिद्ध हैं ही; साथ ही उन्होंने कहानी, उपन्यास और काव्यों की रचना भी की है। कुछ निबंध भी उन्होंने लिखे हैं; यद्यपि उनके कारण उनका मान नहीं है। आपकी प्रसिद्ध तो प्रधानतः इन ग्रंथों के कारण हैं—

(क) नाटक—'सज्जन', 'अजातशत्रु' 'चंद्रगुप्त' स्कदगुप्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी', 'एक घूँट'।

'सज्जन' और 'विशाख' बहुत पहले लिखे गए थे। इनमें कोई विशेषता नहीं है। अन्य अधिकांश नाटक—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—ऐतिहासिक हैं जो हमें हिंदू शासकों के स्वर्णकाल, मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय की भारतीय संस्कृति का चित्र दिखलाते हैं। इन नाटकों में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण

मिलता है, पात्रों का चरित्र चित्रण भी प्रसाद जी ने सुंदर ढंग से किया है।

(ख) काव्य—'करुणालय', प्रेमपथिक'—१९१३, 'कानन-कुसुम' १९१८, 'झरना', 'लहर', 'कामायनी', 'आँसू'।

पहली पुस्तक अतुकांत गीतिनाट्य है और दूसरी अतुकांत प्रेम-काव्य। ये दोनों प्रसादपूर्ण और सरल है। इस समय वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे, परन्तु बाद मे, संभवतः द्विवेदीजी के आंदोलन से प्रभावित होकर, उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। इनकी रचनाओ का प्रधान विषय प्रेम है जो वासना-प्रधान होने पर भी 'लोकोत्तर -प्रेमालवन को ओर उन्मुख होने लगता है।' इनकी भावात्मक कविताएँ बड़ी सुंदर हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'छाया', 'प्रतिध्वनि' 'नवपल्लव', 'आँधी', 'आकाशदीप'।

'ग्राम' प्रसादजी की पहली मौलिक कहानी है जो सन् १९११ में 'इंदु' (काशी) में प्रकाशित हुई थी और 'छाया' उनकी प्रारंभिक कहानियों का पहला संग्रह। उनकी कहानियो का कथानक भी, कविताओ की तरह ही, सामाजिक या राजनीतिक नहीं है, वरन उनमे 'एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक रेखा', प्रेम की एक झलक, निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। 'आकाशदीप', 'बिसाता', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली' 'प्रतिध्वनि' आदि उनकी प्रथम श्रेणी की कहानियाँ हैं।

(घ) उपन्यास—'कंकाल' और 'तितली'।

यद्यपि प्रसादजी ने केवल ये दो ही उपन्यास लिखे हैं तथापि उपन्यास-लेखको में उनका नाम आदर से लिया जाता है। सामाजिक होते हुए भी ये उनकी कहानियों की तरह ही भाव-प्रधान हैं।

प्रसादजी ने गद्य में नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं जनका मुख्य उद्देश्य, जनसाधारण की दृष्टि में मनोरंजन करना ही होता है। परन्तु, वास्तव में, ये रचनाएँ केवल मनोरंजन

विषय और विनोद की दृष्टि से न लिखी जाकर, अध्ययन के लिए लिखी गई थीं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में संघर्ष के चित्रों के साथ-साथ, गवेषणात्मक और भावात्मक स्थल भी हैं। इसका कारण यह है कि अपने नाटकों के लिए प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना है जो गम्भीर और उनके प्रादुर्भाव के समय तक कुछ अनिश्चित-सा था। इसके अतिरिक्त नाटकों में घात-प्रतिघात तथा अंतर्द्वंद्व के लिए विस्तृत क्षेत्र भी उन्हें मिल जाता है। यदि उनके नाटक घटना-प्रधान होते तब अन्तर्द्वंद्व-सम्बन्धी दुरूहता, जो साहित्यिक दृष्टि से नाटकों की प्रधान विशेषता है, उनकी शैली पर विशेष प्रभाव न डालती, परन्तु ऐसे द्वन्द्व की प्रधानता होने के कारण ही शैली गूढ़ और गम्भीर हो गई है।

यह तो हुई साधारण विषय-सम्बन्धी बात। लेखक की शैली पर उसकी रुचि का विशेष प्रभाव पड़ता है। अन्य लेखकों की अपेक्षा प्रसादजी के लिए यह बात अधिक सत्य है।

साहित्यिक रुचि का प्रभाव

उनकी शैली पर उनके गहरे दार्शनिक विचारों—जैसे नियतिवाद, आध्यात्मिक विवेचना आदि का—प्रभाव तो एक ओर पड़ा है जिससे शैली में गूढ़ता तथा गम्भीरता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है, और दूसरी ओर उनके कवि हृदय की सहज भावुकता की पुट दिखाई देती है जिससे अंतर्द्वंद्व में विशेष चमत्कार आ जाता है। ये बातें कहानियों और उपन्यास के लिए भी प्रायः सत्य ही हैं। इन्हें समझ लेने पर हम प्रसादजी की भाषा-शैली को भली-भाँति समझ सकेंगे।

शैली का काव्यात्मक चमत्कार

प्रसादजी पहले कवि हैं पीछे और कुछ। यही कारण है कि उनकी समस्त कृतियों में काव्यात्मक चमत्कार वर्तमान है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए बड़ी सुन्दर उक्तियों का संग्रह करते वे दिखाई देते हैं। ऐसा करने से वर्णन में एक विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

प्रणय वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।

यह चमत्कार प्रसादजी की रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिलता है; छोटी-छोटी कहानियों में भी एक-आध स्थल पर ऐसे वाक्य देखने को मिलते हैं, फिर नाटकों का तो कहना ही

रचनाओं के भावात्मक कथा। वास्तव में जहाँ लेखक स्वयं ही

स्थल पाठकों का दुख-सुख अपना लेता है वहीं अपनी भावुकता से ऐसी उक्तियाँ सोच सकता है। इन उक्तियों में साम्य और चमत्कार तो होता ही है, साथ एक प्रवाह भी रहता है। इसका सम्बन्ध पात्र के हृदय में उत्पन्न दुख, क्षोभ, ग्लानि, हर्ष आदि मनोभावों की मात्रा के अनुरूप होता है। ज्यों-ज्यों अन्तस्थल की सूक्ष्म भावनाएँ आवेश, क्रोध आदि में परिणत होती जाती हैं त्यों त्यों प्रसादजी कुशलतापूर्वक उनका चित्र खींचते हैं। ऐसे स्थलों पर भाव-पकाशन-शैली बहुत ही स्वाभाविक है; वाक्य छोटे-छोटे हैं, भाषा में सहज प्रवाह भी है। प्रायः अंतर्द्वंद्व प्रधान नाटकों में ऐसे स्थल बहुत अधिक रहते हैं, अतः भावात्मक शैली के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। दो-एक नमूने देखकर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

(१) माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ। उनकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मै आत्मघात कर लूँगा।

(२) सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कहदो कि कि रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं, एक बार इन दस्युओं को बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना भी जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें,

सारी गजसेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी हटना पर्वतेश्वर के लिए असंभव है। धर्म युद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी हम नहीं। जाओ, उन भगोड़ो से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने को कहो। कहो कि मरने का क्षण एक ही है, जाओ।

ऊपर की पंक्तियों का भावावेश स्पष्ट ही हैं। दूसरे अवतरण में रणभूमि में मर मिटने को ही जीवन का उद्देश्य समझने वाले भारतीय वीर के वीरतापूर्ण भावोद्गारो का बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन किया गया है। भाषा का धारावाहिक रूप और छोटे छोटे वाक्य, इस शैली की विशेषताएँ हैं। निम्नलिखित अवतरण में भी वाक्यों की गठन और धारा का सुन्दर प्रवाह देखते ही बनता है—

भावात्मक शैली का दूसरा उदाहरण

(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों मे मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय मे बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मो की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्ति जगत में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक-रुक कर आवाहन करता है, जिसमे विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है। एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है। उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटो मे फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सब में समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरो में से मकरन्द-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सब के तप्त अंगों को शीतल करे।

एक स्थान पर कहा जा चुका है कि लेखक की रुचि का उसकी शैली पर बड़ा प्रभाव है। प्रसादजी के विषय में भी यह बात पूर्ण सत्य है। दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि विषयों से उन्हें रुचि थी। अतः उनकी शैली प्रधानतः इन विषयों के अनुकूल हुई है।

शैली पर रुचि का प्रभाव

इसी प्रकार प्रसादजी के नाटकों में हम देश-प्रेम की पवित्र भावना अधिक देखते हैं। इसका एक कारण उस समय की ऐतिहासिक परिस्थिति है जिस समय के कथानकों को उन्होंने अपनाया था। भारत पर तब विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। ये आक्रमणकारी भारतीय प्रजा पर अमानुषीय-अत्याचार करते थे। अतः देश-प्रेमियों की सृष्टि करना नाटककार के लिये स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि ऐसे देशोद्धारक या समाजसुधारक प्रायः कर्मवीर होते हैं, और कर्म की महत्ता का प्रचार भी करते हैं। यही बात कमला के इन शब्दों से स्पष्ट होती है—

कौन कहता है तुम अकेले हो! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन समीप ही है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो, स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो; सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ! आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर।

—'स्कन्दगुप्त' से

इस अवतरण मे हमें उनकी ओजपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं जिसमे बड़ा सुन्दर प्रवाह है और वाक्य भी छोटे-छोटे हैं परिस्थिति

के अनुकूल ऐसी शैली बना लेना वास्तव में, लेखक की कुशलता का द्योतक है।

उनकी शैली की दूसरी विशेषता के संबंध मे एक आलोचक का कथन है, 'वे प्रकृति के रमणीय उपादानों से अपरिवेष्टित मनुष्यता की ओर दृष्टि भी नहीं डालते। उनकी सृष्टि के नर-नारी प्रकृति से लिपटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं और प्रकृति की उन स्थितियों का वर्णन भी ऐसा सार्थक होता है कि यदि वह शीतल पवन के झोंके का वर्णन करेंगे तो उनकी समर्थ पदावली हमें उस पवन का स्पर्श भी करने में सहायता देगी। शब्दों के द्वारा परिस्थितियों की विशेषता उत्पन्न करने की इतनी अपूर्व क्षमता कम लेखकों में होती है।' इन विशेषताओं को इस उद्धरण में कुछ-कुछ देखा जा सकता है :—

प्रकृति का विशेषता-युक्त वर्णन

साधुओं का भजन-कोलाहल-शांत हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड़ में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र, गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिंब देख रहे थे। शीतल पवन का झोंका सबको आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था। महात्मा के हृदय में हलचल थी, वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिंता से मलीन, शिविर छोड़ कर कंबल डाले, बहुत दूर गंगा की जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिर संचित पुण्यों को पुकारने लगा।

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति भी प्रसादजी में अद्भुत थी। दृश्यों की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखाओं को पाठक देख सकते हैं। उन चित्रों के रंग इतने पारदर्शक होते हैं कि उस व्यक्ति के हृदय को भी हम स्पष्ट देख सकते हैं। एक उदाहरण—

रचनाओं में शब्द चित्र

घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली-मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वय:संधि में उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए

भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल-विधवा है।

नाटकीय कथोपकथन

प्रसादजी कुशल नाटककार थे। अतः अपने पाठकों का चित्त कथानक की ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने 'प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन' किया है। इस संबंध में एक अन्य आलोचक का कथन है कि इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविक की ओर झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई देता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसादजी' अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्यों की व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट फेर कर देते हैं। जैसे—'दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा अलौकिक एक तरुण-बालिका !' 'चलोगी चंपा ! पोत-वाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राजरानी-जन्मभूमि के अंक में ?' 'प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।' 'इतने में ध्यान आया, उस धीवर बालिका का।' इस प्रकार का नाट्यात्मक कथोपकथन स्थान स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है। यह उनकी शैली की तीसरी विशेषता है।

व्यंग्यात्मक शैली

कहीं कहीं पर प्रसादजी की रचनाओं में सुन्दर व्यंग्य भी मिलता है जो विशेष चुटीला और मार्मिक न होकर सरल और मीठा है। एक अवतरण देखिए—

मुकुल—महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे

आपके सुन्दर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है वैसे ही आपको दुख के झलमले अंचल में लिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफली वाले का एक रुपये की पूँजी का खोमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा दिया और लूटकर खा भी गए। उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलकें पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

—एक घूँट

इस शैली का चुटकी लेता हुआ व्यंग्य उनकी शैली की चौथी विशेषता कही जा सकती है।

प्रसादजी की भाषा में मुहावरों का प्रयोग कम है। कारण, मुहावरों का प्रयोग प्रायः उर्दू में लिखने वाले लेखकों ने ही अधिकांश में किया—दो-एक लेखक इसके अपवाद भी हैं। प्रसादजी को उर्दू की चुलबुलाहट पसंद ही नहीं थी। परंतु, मुहावरों के अभाव से भाषा में जो शुष्कता, या लचरपन आ जाता है वह उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। अतः उन्हें मुहावरों या कहावतों के झंझट में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई।

मुहावरों का अभाव

आरंभ में प्रसादजी की रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी; परंतु ज्यों ज्यो उनका अध्ययन बढ़ता गया त्यों-त्यों उनकी भाषा भी क्लिष्ट होती गई। वास्तव मे मनोभावों की स्पष्टता और गम्भीर विषयों की विवेचना का प्रयत्न जब किया जाता है तब भाषा क्लिष्ट हो ही जाती है। यही कारण है कि प्रसादजी की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इसके विपरीत, जहाँ लेखक ने साधारण भाव-प्रभाव के अनुकूल भाषा लिखी है, वहाँ संस्कृत की

भाषा के दो रूप

तत्समता अधिक नहीं है। अस्तु, संक्षेप में, प्रसादजी की भाषा मुख्यतः दो प्रकार की है :—

(१) संस्कृत प्रधान— इस प्रकार की भाषा विशेष स्थलों पर ही मिलती है जहाँ मनोभावों का द्वंद चित्रित करते-करते लेखक स्वयं भावमय हो जाता है। तल्लीनता की इस अवस्था में प्रसादजी की भाषा तत्सम-शब्दावली से युक्त है।

(२) व्यावहारिक भाषा—जिसमें अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का अभाव तो अवश्य है परन्तु संस्कृत की प्रधानता अखरती नहीं। इस भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के कारण बड़ा प्रवाह और रस है। इसका प्रयोग उनके पात्रों ने या तो भावावेश में किया है या प्रसादजी ने स्वयं सरस स्थलों पर। उदाहरण के लिए—

परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास वही निष्ठुर प्रतिबिंब, तुम्हारे मुख पर भी है। सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।

'गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ।' इतना कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई। उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई—वह सोचने लगी—'सब विधर्मी दया क पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करने वाले आततायी।' घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

ममता ने मन में कहा—यहाँ कौन दुर्ग है। यह झोंपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा। वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—'जाओ भीतर थके हुए पथिक! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ?' मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुख मंडल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया।

—'ममता' शीर्षक कहानी

यह अवतरण दूसरे प्रकार की भाषा का उदाहरण है। इसमें

उर्दू के शब्दों का प्रयोग तो नहीं है फिर भी भाषा सरल और प्रचलित ही है। प्रसादजी की भाषा पर जब बार-बार

भाषा में परिवर्तन

क्लिष्टता का दोषारोपण किया गया, तब वे कुछ सरल भाषा लिखने लगे। प्रारंभिक कहानियों और नाटकों की तथा 'कंकाल' उपन्यास की भाषा का अंतर हमारे इस कथन की पुष्टि करता है—'तितली' की भाषा तो और भी व्यावहारिक और सरल है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि दार्शनिक विवेचना, आध्यात्मिक स्पष्टता और मनोभावों की व्यंजना के कारण प्रसादजी की संस्कृत-शब्दावली प्रधान भाषा विषय

संस्कृत की तत्समतायुक्त भाषा

के अनुकूल ही है तथापि उपन्यासों, नाटकों और कहानियों के सभी पात्रों का एक ही सी परिष्कृत, अलंकृत और सुसंगठित भाषा में बात करना नाटकीय कथोपकथन की दृष्टि से अस्वाभाविक लगता है। इधर हिंदी के विद्यार्थियों की रुचि का परिष्कार हो रहा है। फलतः प्रसादजी की शुद्ध साहित्यिक भाषा की एकरूपता से अभ्यस्त शिक्षित पाठकों को उसमें विशेष रस मिलता है और इसलिए उनकी इस भाषा-शैली के प्रशंसकों की भी कमी नहीं है।

बाबू राय कृष्णदास

बाबू रायकृष्णदास जी का जन्म सन् १८९२ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य के यहाँ हुआ था। इनके पिता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के भाई—उनकी बुआ के पुत्र—थे। जब यह केवल १२ वर्ष के थे तभी इनके पिता स्वर्गवासी हो गये थे। साहित्य-सेवा करने योग्य साहित्यिक प्रतिभा का परिचय इन्होंने बाल्यावस्था में ही दे दिया था। ९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कविता करनी आरम्भ करदी थी। इस क्षेत्र में इनके पथप्रदर्शक बाबू मैथिली शरण जी गुप्त माने जाते हैं। १५ वर्ष की छोटी अवस्था में इन्होंने 'दुलारे रामचन्द्र' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया, जो पूरा न हो सका। कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के प्रकाशन के उपरान्त इन्होंने उसी ढङ्ग की एक स्वतन्त्र गद्य-कृति 'साधना' नाम से लिखी। कविताओं और गद्य-गीतों के अतिरिक्त सन् १९१७ से आपने कहानियाँ लिखने की ओर ध्यान दिया है। इस क्षेत्र में भी बँगला का प्रभाव स्पष्ट है।
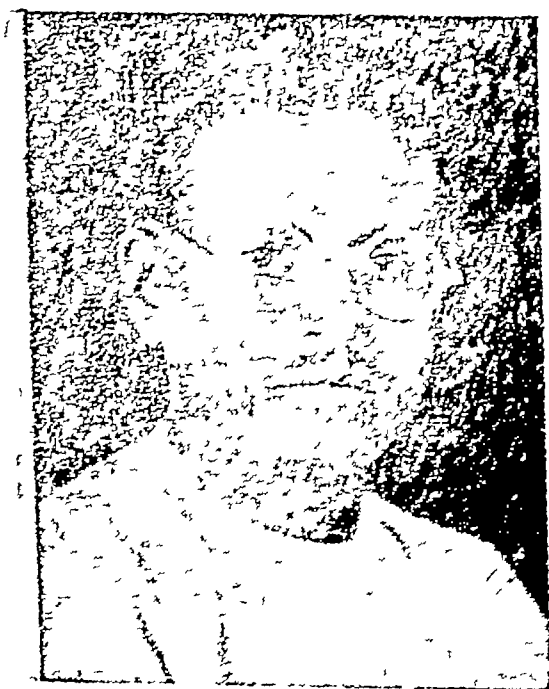
परिचय

[बाबू राय कृष्णदास]

राय साहब का क्षेत्र वास्तव में साहित्य न होकर भारतीय कला है। वे कला-कोविद हैं और इस क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य-सेवियों में अद्वि

तीय हैं। इस क्षेत्र में भारतीय-कला की रक्षा का स्तुत्य
हिन्दी-सेवा प्रयत्न उन्होंने किया है। सन् १९२० में उन्होंने एक 'कला-परिषद्' की स्थापना की थी। समय-समय पर ये कला-कृतियों का संग्रह करते रहे। आज उनका यही संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का एक अंग है।

यों तो 'भारतीय-कला-भवन' का उन्नयन ही उनके जीवन का प्रमुख ध्येय है, उनके साथ आपका साहित्यिक जीवन इस प्रकार संबद्ध हो गया है कि उससे पृथक आपके लेखन कार्य का अस्तित्व हमारे सामने बहुत कम रह गया है, तथापि साहित्यिक क्षेत्र में भी आपने अपने पर्याप्त कृतित्व का परिचय दिया है।' उनकी हिन्दी-सेवा कई भागों में झुकी हुई है। कविता, गद्यकाव्य और कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं। कविता की दृष्टि से तो नहीं, गद्यकाव्य और कहानी लेखक की दृष्टि से उनका नाम अवश्य बड़े आदर से लिया जाता है। 'पहले क्षेत्र में होने वाली प्रसिद्धि का प्रधान कारण 'रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता' और भावात्मक स्पष्टता है जो पाठक के चित्त को लोकोत्तर आनन्द मे मग्न कर देती है और दूसरे—कहानी क्षेत्र—में विषय और भावाभिव्यंजन-शैली की नवीनता मर्मस्थल पर चोट करती है। उनकी कुछ कहानियाँ मनोवृत्ति मूलक तथा भावात्मक हैं और कुछ घटनात्मक-पहले प्रकार की कहानियो में घटनाओं का एक प्रकार से अभाव ही है। फिर भी 'आपकी कृतियों में काव्य-कला, चित्रकला तथा उपन्यास कला का अच्छा सम्मिश्रण रहता है। पात्रों की मानसिक स्थितियो का चित्रण करके ही आप संतुष्ट नहीं हो जाते, उनकी बाह्य रूपरेखा पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हैं।' यही उनकी प्रधानता है।

ग्रन्थ

(क) गद्यगीत-संग्रह—'साधना' (सुकुमार भक्तिपूर्ण उद्गार जिनमें रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता है) 'छायापथ', (भावनाओं के रूप में पूर्व स्मृतियाँ), 'प्रवाल' (वात्सल्य-रस-पूर्ण क्रीड़ाकलाओं का वर्णन), 'पगला' (अनुवादित)

(ख) कविता—'भावुक' नामक कविता-संग्रह में उनकी कुछ

मनोहर रचनाएँ संगृहीत हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'अनाख्या' (घटनात्मक कहानियों का संग्रह जिससे चित्रों का सुन्दर चित्रण किया गया है), 'सुधांशु' (भावात्मक मनोवृत्ति मूलक कहानियाँ जिनमें घटनाओं का अभाव-सा है), 'आँखों की थाह' (नवीन कहानियों का संग्रह)।

एक ओर तो रायसाहब की रचनाएँ भावात्मक हैं और दूसरी ओर इनकी रुचि कला की ओर झुकी हुई है और कला को ये उपादेयता की वस्तु नहीं समझते। इनकी सम्मति में, कला की सार्थकता इसमें नहीं है कि उसकी रचना किसी उद्देश्य-विशेष से की जाय। वास्तव में उसका उद्देश्य इतना ही है कि उसके निरीक्षण मात्र से आनन्द मिले। साहित्य क्षेत्र में भी कला-विषयक उनका ऐसा ही आदर्श रहा है। यद्यपि इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के कथानक लेकर अपनी कहानियाँ लिखी हैं तथापि उनमें कथा को—और उतनी ही कथा को अपनाया है, जिससे कथानक सरल होकर भाव स्पष्टता और रस के उद्रेक में सहायक हो सके। उसके अधिकांश पात्र इस भौतिक जगत के साधारण प्राणी न होकर कला-जगत के भावुक और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं जिनके चित्रण में अनभिज्ञता के कारण पाठकों को कहीं-कहीं पर अस्वाभाविकता-सी दिखाई पड़ेगी। फिर, गद्यगीत तो छोटे-छोटे एवं भावानुभूतिमय क्षणों के बिन्दु-चिह्न होते ही हैं; उनकी कल्पना और भावुकता के विषय में कहने की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

विषय

रायसाहब ने, यह कहा जा सकता है कि, एक ही शैली में अपनी कहानियाँ और गद्यकाव्य लिखे हैं—वस्तुतः उनकी कहानियाँ गद्यकाव्य का सा आनन्द देती हैं। परन्तु गद्य-काव्य के प्रलोभन को रोक न सकने के कारण संस्कृत की 'कादम्बरी' की शैली अपनाकर जो लेखक हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की समासांत पदावली भर देते हैं, उनका अनुकरण

शैली में गद्यकाव्य की भाव प्रधानता

राय साहब ने नहीं किया। कहा जायगा कि आगे के गद्य-काव्य के अनेक लेखकों ने उनका ही ढंग अपनाया है। कारण यह है कि भावुकता प्रधान होने पर भी उनकी शैली में कहीं अस्पष्टता नहीं है, संस्कृत की तत्समता में उनके आध्यात्मिक विचार पाठकों की बुद्धि के लिए 'अजेय दुर्ग' नहीं बन गये हैं। उनकी 'सुरम्यवाटिका के कमनीय सुमनों के चयन' करने का सभी को अधिकार है। उदाहरण के लिए उनका 'निर्गुण वीणा' शीर्षक गद्य-गीत देखिए—

अनन्त काल से तुम्हारे बजाते रहने से इस वीणा के गुण ढीले पड़ गये हैं। सो अब यह बेसुरी बजती है और उलटा तुम्हारे बजाने की योग्यता पर संशय करती है।

प्रभो, इसके गुणों को कस दो, जिसमें यह सुर में बजे और झूठा संशय जाता रहे।

नहीं, नहीं, ऐसा न करना, इसके गुणों को दूर बहाओ, जिसमे उनके ढीले पड़ने का प्रपंच एवं इसके मिथ्या संशय का कारण जाता रहे और यह निर्गुण भाव से नीरव लय का नित्य विस्तार करे और कृतकृत्य हो।

—साधना पृ० ८

कितना सुन्दर भाव कितने सीधे-सादे शब्दो मे व्यक्त किया गया है! हमारी इस जीवन वीणा का निर्माण तो वास्तव में निर्विकार तत्वों से हुआ था, परन्तु आज इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के विविध विकारों या प्रलोभनों के प्रभाव-स्वरूप वह शिथिल-सी हो गई है कि हमें इस वीणा के सर्व-शक्तिमान निर्माण-कर्ता के अस्तित्व में भी सन्देह होने लगा है।

यही शैली रायकृष्णदासजी की प्रमुख शैली मानी जा सकती है। वाक्य इसमें छोटे-छोटे और भावपूर्ण है तथा शब्दो से संकेतमात्र किया गया है। स्थान-स्थान पर यह पदावली भाव की सरलता के अनुरूप मधुर हो गई है। जान पड़ता है, कवि शिशु-सा

प्रकृति वर्णन की प्रणाली

भोला बन कर प्रकृति के प्रांगण में घूम-घूम कर एक-एक मनोहर वस्तु की ओर चकित भाव से देख, उसका रहस्य जानने की जिज्ञासा कर रहा है। प्रकृति के रमणीक दृश्यों के प्रति इसी स्नेहपूर्ण जिज्ञासा का यह प्रभाव है कि उनके प्रकृति वर्णन बड़े सुन्दर हुए हैं। दो एक दृश्य देख लीजिये—

(१) सारा कानन चित्र विचित्र कुसुम और पल्लवों से सज उठा है। हुलसी अमरावल्ली फूल-डोल पर पेंगे ले रही है। सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं, वह छक कर मौज के गीत गा रही है। पल्लव करताल दे रहे हैं। भावुक चपल पवन लतिकाओं से छेड़-छाड़ कर रहा है, उन्हें गुदगुदा रहा है, झकझोर रहा है। वे खिलकर हँस के फूलों की झड़ी लगा रही हैं।

(२) भादों की अँधेरी रात है। काले-काले बादलों ने आकाश को आच्छादित कर लिया है। वे मानों अन्धकार में मार्ग न पाने से कहीं अटक गए है। बिजली तक का कहीं पता नहीं। क्या वह इन काले बादलों में ठण्डी पड़ गई है या अन्धकार के मारे चंचला चपला को भी घन-पटल से निकलने का साहस नहीं ?

—साधना पृ० ४०

अपने 'प्रकृति और कला' शीर्षक गद्यगीत (साधना पृ० २०) में उन्होंने लिखा है—

मैंने तुम्हें अपनी प्रकृति अर्पित करदी है। तो भी मैं तुम्हारे पास अपने प्राकृतिक रूप मे नहीं आता। मैं सजकर तुम्हारे पास आता हूँ। क्या लोक-लज्जा से ? नहीं। कला के सहारे में तुम्हें और भी मोहित करना चाहता हूँ।

परिणाम उलटा होता है। तुम मेरी ओर से तो ध्यान नहीं देते, उसी के देखने में लीन हो जाते हो और उसी की आलोचना में समय बीत जाता है।

हे प्रीतम, अब मुझे अपना मिथ्या विश्वास मालूम हो गया। अब मैं तुम्हारे पास निसज्ज होकर आऊँगा। तुम मेरा प्रकृत रूप

देखो और उसी की आलोचना करो।

उनके इस कथन को यदि हम ध्यान में रक्खें तो हमें उक्त सरलता और स्पष्टता के रहस्य का ज्ञान अवश्य हो जायगा, यद्यपि उनकी कृतियों में सर्वत्र ऐसी सरलता नहीं दिखाई देती। उनके कथन का एक चमत्कार-पूर्ण ढंग और है जिसमें वे एक बात को सीधे-सादे ढंग से न कह कर आलंकारिक रूप देते हैं।

शैली में आलंकारिक चमत्कार

'सायंकाल का समय था' न कह कर वे कहते हैं—'दिनमणि अपने करों से स्निग्ध कोपलों को लाखों रत्नों से आभूषित कर रहा था।' (छायापथ पृ० ४०)। इसी भाँति, 'क्रमशः सन्ध्या हुई और सूर्य उससे सानुराग विदा हुए, के साथ-साथ वे यह भी कहते हैं—'प्रतीची ने स्वर्ण और नीलिमा के धूप-छाह का उत्तरी ओढ़ा।' (छायापथ पृ० ४०)। एक आलोचक के शब्दों में, जान पड़ता है कि सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उन्हें वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—'कल्पना का लोक' जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान् अमिताभ के दर्शन मिलने पर लौकिक प्रसन्नता को काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्यवती' बन जाती है, अतीत वर्तमान बनकर उनके सामने अभिनय करने लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् 'ममता' टपक पड़ती हैं।

अलंकारों के प्रयोग की प्रथम विशेषता

उनकी शैली में दो विशेषताएँ और हैं। पहली बात है अलंकारों का इस सुन्दर ढंग से प्रयोग करना जिससे भावों में विशदता और स्पष्टता तो अवश्य आ जाय परन्तु दुरूहता या क्लिष्टता न आने पाये। दो एक उदाहरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) जिस प्रकार सूक्ष्मवीक्षण यंत्र में देखने से दृश्य-वस्तु और

ही रूप में दीख पड़ती है उसी प्रकार प्रेम की दिव्य दृष्टि से ये सब पदार्थ स्वर्गीय रूप में दिखाई देते हैं।

(२) तुम्हारे पाद-पल्लव के स्पर्श से मेरा मन-अशोक लदबदा कर फूल उठता है और उसके बोझ से नत होकर आनदामोद बगारने लगता है। साधना पृ० १६

(३) खेतिहर अपने आमोद में मग्न थे—चरैं हरित तृन बलिपसु जैसे। 'बीज की बात' (कहानी)

(४) महारानी उसी शकल में धड़धड़ाती हुई राजसभा में उतर आई—पहाड़ी प्रवाह के वेग से दौड़नेवाली शिला की तरह।—सुधांशु

(५) जिस प्रकार हाथी की अवस्था के साथ उसके शरीर पर शोण-बिंदु बढ़ते जाते है, उसी भाँति ज्यों-ज्यों रात बढ़ने लगी त्यों-त्यों अखिल आकाश पर तारों की संख्या भी बढ़ रही थी।

—छायापथ पृ० ४०

दूसरी विशेषता है भावोद्वेग में वाक्य विन्यास में उलट-फेर कर देना। प्रायः ऐसा करने से वाक्य बड़े प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। 'प्रसाद' जी तथा अन्य कलाकारों की रचनाओं में भी यही बात मिलती है। उदाहरण के लिए—

(१) उत्कट इच्छा होती है वहाँ चलने की।

(२) यों वह अनन्त विभूति दिखलाता है, पर रहता है वह ज्यों दूसरी विशेषता का त्यों निलिप्त।

—छायापथ पृ० ७१

रायसाहब ने रहस्योन्मुख-आध्यात्मिकता-सम्बन्धी गद्य-गीत भी लिखे हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य के जो विचार उसके सरल और संस्कृत हृदय में उदय होते हैं उन्हीं का गान उन्होंने किया है। पदावली की मधुरता और शैली के संयत प्रवाह के कारण ये गीत और भी मार्मिक हो गए हैं। यही उनके गद्य गीतो की लोकप्रियता का प्रधान कारण है।

यद्यपि उनकी कृतियों में कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ संस्कृत के तत्सम

विदेशी और प्रांतीय शब्द

शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया गया है, तथापि उनकी भाषा शुद्ध और प्रचलित हिंदी ही है, जिसमें उर्दू के व्यावहारिक शब्दों का बहिष्कार भी नहीं किया गया है और न संस्कृत शब्दों को आश्रय ही दिया गया है।

'हमसाया', 'ताज्जुब', 'कहर', 'कब्जा', 'मुखालिफाना', 'इत्तिला', 'खैर', 'दुरुस्त' जरा-जरा' आदि उर्दू के शब्द तो उनकी भाषा में एक तरफ मिलते हैं और दूसरी तरफ 'ढकोशला', 'कुण्डी', 'राम मोहानिया', 'अलबत' आदि प्रांतीय और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी किया है। ये बातें उनकी कहानियों में अधिक पाई जाती हैं। भारतीय संस्कृत के प्रचारक होने के साथ-साथ रायसाहब हिन्दी की शुद्धता के भी पक्षपाती हैं। यहाँ तक कि उन्होंने मुहावरों को भी हिन्दी रूप देने का प्रयत्न किया है; यथा 'दिल का छोटा है' के स्थान पर 'हृदय से लघुना है।' इस प्रयत्न का प्रधान कारण उनकी रुचि है। इस सम्बन्ध में इतना कहना अनुचित न होगा कि ऐसा प्रयत्न प्रायः सरलता से सफल नहीं होता और नए प्रयोग पूर्व प्रचलित के समान सशक्त तो हो ही नहीं सकते।